[मिथ्यात्व विषयक बहुचर्चित चर्चा पर सामयिक प्रत्यालोचन एवं
विसंयोजना के सन्दर्भ में मौलिक अनुशीलन]

समीक्षा / सम्मति हेतु

आचार्य विद्यासागर

❀ प्राप्ति स्थल

★ ज्ञानोदय नवयुवक सभा, जैन मंदिर, लार्डगंज, जबलपुर

★ संतोषकुमार जयकुमार जैन, कटरा बाजार, सागर

अकिंचित्कर

आचार्य विद्यासागर

ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर

प्रथम आवृत्ति – २२ नवम्बर, ८७
(१५ वाँ आचार्य पद-प्रतिष्ठा दिवस)

चार रुपये

मुद्रक : अनिल मुद्रणालय, जबलपुर

AKINCHITKAR

By Acharya Vidyasagar.

शीर्षक/उपशीर्षक

पुरानी चर्चा पर नये सन्दर्भ

▣ बहुत दिनों से...... बहुत दिनों से ही क्यो ? बहुत सालों से चल रही इस तत्त्वचर्चा को, नये सन्दर्भों के साथ पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित करने से शायद, इसको नया मोड़ मिलेगा। चर्चा का विषय-प्रस्तुतीकरण हो कि इससे पहले पुस्तिका के उद्भव का इतिवृत्त बताने का लोभ सवरण न कर सकूंगा।

सन् १९८४ में मैं श्री सिद्धक्षेत्र गिरनार जी की यात्रा पर था। यात्रा के दौरान अजमेर जाने का भी अवसर मिला, जहा कि आचार्य धर्मसागर जी का सघ सहित चातुर्मास हो रहा था। उनके सघ मे अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी एवं मुनि वर्द्धमान सागर जी प्रबुद्ध साधु भी उस समय वहा थे, जिनकी वन्दना का अवसर प्राप्त हुआ। इनसे मेरा सम्पर्क होने के कारण प्रायः चर्चा भी होती है। इस बार चर्चा के दौरान 'मिथ्यात्व आस्रव व बन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर है' विषय पर काफी विमर्श हुआ। मुझे स्मरण है कि चर्चा के दौरान आचार्यकल्प श्रुतसागरजी ने कहा—'इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए कई लोगो से चर्चा कर चुका हूं, अब तो सोचता हूं कि आचार्यश्री (विद्यासागरजी) से ही सीधे समझने की कोशिश करना चाहिए। बीच के लोगो से तो विषय और उलझता-सा जा रहा है।'

इस वाक्य से मेरे मन मे इस पुस्तिका का बीजारोपण तो अवश्य हुआ, किन्तु कई दिनो तक भी संकल्प के अंकुर न निकल सके। कारण, तब मैं यह ही नही समझ सका था कि किस माध्यम से इन प्रबुद्ध सन्तों की चर्चा / वार्ता हो सकती है? यह प्रश्न दिमाग में निरुत्तरित ही घूमता रहा। और कुछ दिनो बाद तो मैं प्रश्न को ही विस्तृत कर बैठा।

नवम्बर १९८५ मे दक्षिण भारत के जैन-तीर्थों की यात्रा का भी अवसर मिला। दक्षिण भारत के जिन विद्वज्जनों से मेरा परिचय था

उन्होंने तथा अन्य भी अपरिचित लोगों ने मुझसे, आचार्य श्री विद्या-सागर से संपर्क होने के कारण, इसी सदर्भ में बातचीत की। अब तक मैं अपने आपका इस विषय से परिचय हो जाने के कारण, बुद्धिके अनुसार समाधान करने की कोशिश करता रहा। किन्तु अन्त में जब मैं इण्डी में विराजमान मुनि श्री नियमसागरजी से चर्चा कर रहा था, साथ में सुश्री विद्युल्लता जी शहा व सोलापुर के अन्य साथी थे तब मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि यदि आचार्य श्री से ही आगम के आधार पर चर्चा बातचीत कर उसे सामान्य आगमाभ्यासियो तक पहुँचाना चाहिए। तभी विषय की तथा विषयगत उद्देश्य की यथार्थ जानकारी सर्वविदित हो सकती है। अत. वही संकल्प कर लिया कि यात्रा समाप्त होते ही इस कार्य की पहल करुगा, और आचार्य श्री के विचार इस विषय के साथ अकालमरण, शुभोपयोग–शुद्धोपयोगादि चर्चित विषयों पर लेकर छोटे–छोटे ट्रेक्ट के रूप मे प्रकाशित कराने का प्रयास करुंगा।

जनवरी १९८६ के आरंभ मे यात्रा समाप्त कर जब आचार्य श्री के दर्शनार्थ नैनागिरजी पहुँचा तो रास्ते का सकल्प कह सुनाया और कार्यारम्भ हेतु भी निवेदन किया। उन्होने हर समय उत्तर देने वाले शब्द 'देखो' न कहकर स्पष्ट कहा–"अभी तो समय नही है, पर दो माह बाद अवश्य इसके लिए समय दे सकता हूँ।" मैंने और प्रतीक्षा के लिए सिर हिलाकर मजूर कर लिया। कई दिनों तक इसके ही मिष पदयात्रा भी करता रहा और निवेदन करता रहा। अन्त में कहते-कहते जून में षट्खण्डागम स्वाध्याय शिविर की समाप्ति पर समय मिला। पहली किस्त मे दिनांक ११-६ को लगभग ४५ मिनिट की चर्चा हुई। लेकिन सभी विषयो पर चर्चा न हो सकी। अत: पुन: समय की मांग रखी गयी तथा दिनांक २६-६ की स्वीकृति मिली। ठीक समय पर चर्चा हुई और लगभग ४० मिनिट तक चर्चा हुई। कुछ शका समाधान भी हुआ। चर्चा के बाद महसूस किया कि विषय लगभग पूरा हो गया। अत: अब इसे प्रकाशन के योग्य बना लेना चाहिए, किन्तु जब उसका आद्योपान्त आलोडन किया तो देखा कि 'अभी भी कुछ विषय

छूट रहा है । अतः दिनांक ६-८ को पुन. एक बैठक में चर्चा हुई और विषय की पूर्ति की गयी। इस तरह से इसके आकारग्रहण की एक लंबी यात्रा का कुछ भाग तय हो पाया ।

पूज्य आचार्यश्री ने कुण्डलपुर में सर्वप्रथम इस विषय को बनारस से आगत विद्वानों एवं प्रबुद्धदर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया था। उस वक्त कुछ चर्चा भी हुई थी, किन्तु समयाभाव के कारण निष्कर्ष जैसा कुछ नहीं हो सका । अतः नैनागिरमें सन् १९७८ में आयोजित शिविर के समय आये विद्वानों के समक्ष पुन. विषयप्रवर्तित हुआ । तब से आज तक इसकी चर्चा लगभग विद्वानों एव सुधी स्वाध्यायियों तक प्रसरित होती / हो रही है और वे अपनी बुद्धि के अनुसार इसके पक्ष-विपक्ष मे आगम और तर्कों को उपस्थित करते रहे । कई विद्वानों को तो स्वयं आचार्यश्री से इस विषय पर विमर्श कर लेने का अवसर मिला तथा तथ्य को समझकर निरुत्तरित होकर चले गये । लेकिन जिन्होने इसे नही समझ पाया और ना ही सीधे आचार्यश्रीसे चर्चा हुई या जो पक्षाग्रही रहे उन्होने तो इस विषय पर किस्त-दर-किस्त लेख-मालाएँ चलाकर समाधान पाना या देना चाहा, किन्तु मालूम नहीं उन्हें उसे पाने / देने में कितनी क्या सफलता मिली ?

इस प्रकार के सामयिक परिप्रेक्ष्य को देखकर कई श्रावको ने आचार्यश्री से भी लेख के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करने का आग्रह किया, किन्तु उन्होने 'एक, हमारी तो कोई पत्रिका नही तथा दूसरी, मैं ना तो इन पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ता हू और ना ही इनमें लेख दे सकता हूं' कहकर टाल दिया । 'किन्तु चर्चा के लिए जो भी आना चाहे-आये, आगम की विनय एव मर्यादा के साथ सयमपूर्वक चर्चा करे तो हम अपने आवश्यकों के अतिरिक्त समय में चर्चा करने हमेशा तैयार हैं ।' कहकर उन्होने विषय की गहनता एव दृढ़ता का परिचय कराया ।

मैं निरन्तर सोचता रहा-'चर्चा के लिए कौन-कितने लोग आ

सकते हैं या उनके सामने चर्चा कर सकने का साहस कितने जुटा सकते हैं, इससे भला कौन परिचित नही ?'' अन्ततोगत्वा इस पुस्तिका की उद्भूति की कल्पना ने जन्म लिया।

इस संदर्भ की समग्रता, यह बताये बिना नही हो सकती, कि प्रतिवर्ष लगने वाले 'षट्खण्डागम स्वाध्याय शिविरो' में सिद्धान्तविज्ञ विद्वान् आते रहे तथा षट्खण्डागम । कसायपाहुड के किसी भी प्रसंगवश इस विषय की चर्चा भी मुखरित होती रही। विद्वानो ने तथा आचार्य श्री ने अपने-अपने प्रश्न रखे, विचार-विमर्श हुआ। किसने कितने प्रश्न समाधित किये, यह अल्पबुद्धि होने के कारण उस समय तो नही जान सका किन्तु कुछ उत्तर उस समय सुने व आज वे अविस्मृत है,निश्चित ही अविचारितरम्य जान पड़ रहे है। जैसे, प्रश्न-अनन्तानुबन्धी के अनुदय में मिथ्यात्व गुणस्थान में एक आवलिकाल तक अनन्तानुबन्धी का बन्ध कराने वाला कौन है ? उत्तर-'अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय।' इसी प्रश्न का अगले सालो मे उत्तर दिया गया 'मिथ्यात्व' इत्यादि।

इन शका-समाधानो से तब तथा अभी तक भी पूर्णरूप से ना तो आचार्यश्री सहमत हो सके और ना ही कोई विद्वान्। फिर लघुधी स्वाध्यायियों की बात करना अनुचित होगा। लेकिन हा--! मुझे इस माहौल ने सक्रिय किया और मेरी कल्पना को पैर भी दिये, जिससे ही मैं इस विषय की गहराई को स्पर्श करने की बुद्धि पा सका। और इस तरह इस पुस्तिका के जन्म के ऐतिह्यपृष्ठ से आज तक की यह यात्रा कर सका।

■ लोगो ने...लोगो ने ही क्या ? कई विद्वानो ने भी विषय-वस्तु की यथेष्ट जानकारी न प्राप्तकर यद्वा-तद्वा प्रलाप करने वाले जैसे-'मिथ्यात्व आस्रव और बन्ध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है' इस वाक्य से कहा कि आचार्य महाराज तो मिथ्यात्व को कुछ नही मानते; उससे कोई हानि नही स्वीकारते; वे तो मिथ्यात्व के समर्थक है; इत्यादि इस विषय पर अपनी राय देकर अपनी मेधा का परिचय देते रहे। 'मिथ्यात्व

आस्रव एवं बन्ध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है' से सीधा-सा तात्पर्य इतना ही था कि 'मिथ्यात्व कौन-सी कितनी प्रकृतियो का आस्रव व कौनसी, कितनी प्रकृतियो में स्थिति और अनुभागबन्ध कराने में हाथ रखता है' इस गूढ रहस्य को उजागर किया जाये । या इसी बात को इन शब्दों में कहें कि 'मिथ्यात्व के विषय मे बैठे एक और मिथ्यात्व/तत्त्वसंबंधी भूल को अनावरित करना ।' इस वाक्य मे 'मिथ्यात्व को कुछ न मानने' जैसी शंकाओ को अवकाश ही कहा ?

विषय की गभीरता, बाल की खाल निकालने जैसी ही है। फिर भी यदि संक्षेप में समझने की बात करे तो इस तरह समझा जा सकता है कि, 'क्या सम्यग्दर्शन, जो कि मोक्ष का कारण है, किसी प्रकृति के आस्रव या बन्ध का भी कारण हो सकता है ? पहला, यदि हा ! होता है तो वह मोक्ष का हेतु नही हो सकता । कारण जो बन्ध का हेतु है वह उससे विपरीत कार्य मोक्ष का हेतु नही हो सकता । अन्यथा शीतल एवं उष्ण परस्पर विरुद्ध धर्मों के अवस्थान का आधार एक अग्निधर्मी होना चाहिए । लेकिन ऐसा सभव नही है। दूसरा, यदि कहो कि सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का ही हेतु है बन्ध का नही तो उससे विलक्षण जो मिथ्यात्व वह भी मात्र ससार का हेतु (विपरीताभिनिवेशजनक) है, बन्ध का नही । कारण, बन्धरूप कार्य उससे भिन्न है ।'

हा- यदि कहो कि दोनों को सर्वथा अकिंचित्कर न माना जाये । कारण, सम्यग्दर्शन के द्वारा तीर्थकरादि विशेष प्रकृतियो का बन्ध आगम मे वर्णित है अत. कथचित् बन्धकर स्वीकारना चाहिए ?

समाधान-कथचित् का यह प्रयोग कितना अधिक भूल भरा है यह निम्न वाक्य से ही स्पष्ट होता है, कि यदि सम्यग्दर्शन को कथचित् संसार का हेतु व कथंचित् मोक्ष का हेतु कहा तो वैसे ही मिथ्यात्व को भी कथचित् ससार और कथंचित् मोक्ष का हेतु होना चाहिए, किन्तु ऐसा होना स्पष्ट रूप से आगम विरुद्ध है ।

यथार्थ विषयवस्तु से ही अन्दर के पृष्ठ लिखे गये है । यहा तो मात्र विषय स्पर्श कराना ही उद्देशित है, व्यर्थ का कलेवर बढ़ाना नही ।

इस तरह से इस प्रकरण में आचार्यश्री ने प्रत्येक पहलू पर स्पष्ट एवं तार्किक विचार प्रस्तुत किये हैं चाहे वह सिद्धान्त में स्थिति बन्ध की अपेक्षा का हो या विसयोजना का। स्वोदय का हो या परोदय का। सक्रमण का हो या अनुदय का। न्याय मे—भावबन्ध का हो या द्रव्यबन्ध का; या फिर अध्यात्म के प्रकरण मे प्रमुख रूप से क्रियावती शक्ति का हो या भाववती शक्ति का या षट्कारकीय व्यवस्था का।

लगभग सभी प्रसङ्गोपात्त विषय पर यथेष्ट विमर्श कर कुछ चिन्तनीय, मननीय प्रश्न भी प्रस्तुत किये, जिससे स्वाध्यायियों को बुद्धि व्यायाम ही नही भी बल्कि अनुभूतियों की नयी दिशाए आविर्भूत होंगी, साथ ही आगम के स्वाध्याय की क्रमिक धाराओ का भी अनुपम फल परिलक्षित होगा।

इस विषय से इतना तो अवश्य ही स्पष्ट होगा कि 'जीव के लिए जहां मिथ्यात्व अहितकारी है वहां कषाय भी कम अहितकारी नही है ' और जहा तक मैं समझता हू कि आचार्यश्री की इस चर्चा का लक्ष्य भी इसी को स्पष्ट करना है, ना कि किसी अन्य स्वतन्त्र मान्यता की स्थापना।

▣ जैसा कि पुस्तिका के इतिवृत्त से स्पष्ट है कि इस विषय की चर्चा आगम की आधारशिला पर आधारित ही सोची गयी थी, कितु आचार्यश्री से हुई तीनो चर्चाओं के वक्त ना तो उनके हाथ मे कोई ग्रथ था और ना ही अन्य के। अतः विषय की प्रामाणिकता का आधार स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। इसलिए सभी सन्दर्भ (पाद-टिप्पण) आचार्यों द्वारा प्रणीत जैनवाङमय से लिये गये। वैसे जब आगम ग्रंथो का अवलोकन किया तो जैन ग्रथो, चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, मे चर्चा के सभी वाक्य, पद यथावत् उद्धृत जैसे ही मिले। लेकिन दिगम्बराचार्य होने के नाते इसमे मात्र दिगम्बर साहित्य को ही उद्धृत किया है।

इस संदर्भ को इतनी विशेषता से बता देना चाहता हू। ये पाद

टिप्पण मात्र कथन-पुष्टि के प्रतीक-रूप में ही नही दिये गये हैं बल्कि इसके पीछे एक लक्ष्य 'एक आचार्य की भाषासमिति के सफल प्रयोग व आगमनिष्ठा का भी दिग्दर्शन कराना है। वैसे पुस्तिका मे स्थान प्राप्त सन्दर्भों का जितनी मात्रा में उपयोग हो पाया है, लगभग उसके बराबर ही प्रमाण मे अभी और भी मौजूद हैं, लेकिन उन सबको 'मघवा मूल विडौजा टीका' हो जाने के भय से ही नही दिया जा रहा है।

साथ ही दिये गये प्रसंग भी आद्योपान्त ही उद्धरणीय थे किन्तु विस्तार भय से उन्हें अतिसंक्षेप मे ही रखना पडा। अत. विद्वज्जनों से अनुरोध है कि वह उन्हें ग्रथों के संकेत से आद्योपान्त देख लें तथा कष्ट के लिए ध्यान न दें।

पुस्तिका में दी गयी सन्दर्भित ग्रथो की सूची के अनुसार वैसे तीस ही पुस्तको का सहारा लिया गया है परन्तु यदि उनके सभी भागों की परिगणना की जाये तो वह ६४ तक पहुँचती हैं। अत: प्रसंग खोजने के समय सावधानी अपेक्षित होगी। पाद–टिप्पण मे ग्रंथ का नाम, उसकी भाग सख्या/गाथा या कारिका तथा पृष्ठसख्या ही उद्धृत की गई है, यतः संकेत, सकेत के ही रूप में रहे। उन्हें खोजने के लिए व्यर्थ उलझन व प्रज्ञा परिश्रम पैदा न हो।

□ 'कैसिट' से आलेख तैयार करना कितना कष्ट साध्य है, इससे कम से कम वे लोग तो वाकिफ हैं ही, जो इस विषय में दखल रखते, करते हैं। कारण, सामान्य बोलचाल की भाषा को तद्वत् लिख पाना अत्यन्त दु.साध्य होता है। इसके बाद उसकी शुद्धि एवं पाण्डुलिपि तैयार करना भी कम कष्टप्रद नही है। इनके साथ ही संदर्भों में उल्लिखित ग्रंथो में से वे पंक्तिया खोजना, जो प्रसगोपात्त है, आप सबके अनुभव या अनुमानगत है कि कितना श्रमपूर्ण होता है। अतः इन सभी कार्यों को जिन अनेक परिश्रमी हाथो ने किया उनको स्मरण कर लेना कर्त्तव्य होगा।

कार्य की अधिकता ने सहभागी होने वालों की संख्या में भी

वृद्धि की। अत: उन सभी का नामोल्लेख करना प्रसगोपात्त होकर भी संभव नही हो पा रहा है । यत: भूल होना संभव है । अत: उन सभी को 'अनाम–प्रतिभाओ' के रूप याद कर रहा हूं तथा आशा कर रहा हूं कि उनका वह स्नेह/सहयोग/उदारता/कृपा, जो सदा से मिला है, इस त्रुटि के बाद भी पूर्ववत् या वृद्धिगत ही मिलेगा। मैं उनके श्रम को अपने से सदा उपरि मानता हू, यह विश्वास भी उन्हें दिलाने के लिए इतना कहना ही उचित मानूंगा कि 'मैं इस कार्य मे मिथ्यात्ववत् ही अकिंचित्कर हू।' मेरी उपस्थिति ही मात्र इस पुस्तिका की अनिवार्यता रही, किन्तु सारा श्रम व योग इन्ही सहयोगियो का है। अत पुनश्च साधुवाद ।

पुस्तिका प्रकाशन में श्री ऋषिप्रसादजी, प्रतिनिधि—सकल दिगम्बर जैन समाज, बल्लभगढ़ (फरीदाबाद) का एव अनिल मुद्रणालय के अधिकारियो एवं कर्मचारियो का भी सहयोग अविस्मरणीय है।

अन्त मे, परम पूज्य आचार्यश्री के चरणो मे श्रद्धाभिभूत हो प्रणत हूँ जो कि उन्होने मेरी इस छोटीसी प्रार्थना पर ध्यान दे हमे तथा आप सभी को उपकृत किया। आशा एव विश्वास है कि हम तथा आप इस उपकार से अपनी बुद्धि/श्रद्धा/विवेक/आचरण को भी उपकृत कर सकेंगे। इत्यलम् ।

पिसनहारी, १४ नवम्बर ८७, — राकेश जैन

प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

1	आप्तपरीक्षा	प्रकाशक	जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई	II	2457
2	कर्मकाण्ड	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	I	2505
				II	2507
3	कसायपाहुडसुत्त	,,	वीर शासनसघ, कलकत्ता	I	2481
4	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल अगास	III	2495
5	कातन्त्ररूपमाला	,,	बाबूलाल जैन, एण्ड सन्स, देहली		1981
6	छहढाला	,,	बाहुबली दि. जैन पाठशाला, नसीराबाद	II	2513
7	जयधवला	,,	भा. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा	I	
8	जीवकाण्ड	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	I	2504
				II	2505
9	जैनेन्द्रव्याकरण	,,	विद्याविलास मुद्रणालय, काशी	I	2449
10	तत्वार्थसूत्र	,,	शिखरचन्द सुरेन्द्रकुमार जैन, मोहनलाल शास्त्री मार्ग जवाहरगंज, जबलपुर	XII	2510

11	तत्त्वार्थवृत्ति	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	I	2475
12	द्रव्यसंग्रह	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	III	2505
1‧	धवला (षट्खण्डागम)	,,	जैन साहित्योद्धारक सघ, अमरावती	I	
14	धर्मध्यान दीपक	,,	लाडमलजी जैन दशमप्रतिमाधारी	I	2504
15	निजामृतपान	,,	भागचन्द इटोः सार्व न्यास, दमोह	I	1979
16	न्यायदीपिका	,,	वीरसेवा मन्दिर दिल्ली	II	1968
17	पञ्चास्तिकाय	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	III	2495
18	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	,,	कमल प्रिंटर्स, मदनगंज (किशनगढ)	I	2499
19	प्राकृतपञ्चसग्रह	,,	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	I	1960
20	प्रवचनसार	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	IV	2510
21	महाबन्ध	,,	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	I	2473
22	मूलाचार	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	I	1984
				II	1986
23	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	,,	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, बनारस	I	2498
24	राजवार्तिक	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	I	2479
				II	2484
25	लब्धिसार	,,	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्ता	I	
26	श्लोकवार्तिक	,,	गांधीनाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	I	2444
27	षट्प्राभृतसंग्रह	,,	माणिकचन्द ग्रन्थ माला बम्बई	I	2447
28	समयसार	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल अगास	III	2508
29	सर्वार्थसिद्धि	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	III	2512
30	सांख्यकारिका				

अकिंचित्कर

सम्यग्दर्शन की महिमा—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन की महिमा सक्षेप में इस प्रकार व्यक्त की है—तीन काल व तीन लोक में यदि कोई सुखप्रद वस्तु है तो वह सम्यक्त्व तथा दुःखप्रद तो मिथ्यात्व। जब हम सभी सुखाभिलाषी और दुःखभीरु हैं तब हमारा प्रयास सुखप्रद वस्तुओं के लाभ तथा दुःखप्रद वस्तुओं के अभाव के प्रति आवश्यक है।

सुखप्रद वस्तुओं के लाभ के लिए समुचित साधन आपेक्षित है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के लिए सभी दार्शनिकों ने कार्य-कारण की व्यवस्था मानी है। उन्होंने कहा—कार्य बिना कारण के उत्पन्न नहीं हो सकता।[1] अतः हितकारी और अहितकारी कार्यों का उत्पादन किन-किन कारणों से हो रहा है यह समझना व हितकारी कार्य के प्रति उद्यम करना आवश्यक है। जहाँ तक समझने की बात है वह हमें मात्र स्वयं की बुद्धि से नहीं समझना बल्कि वह जिनेन्द्र

---

१ (अ) ण च कारणमंन्तरेण कज्जस्सुप्पत्ती कहिं पि होदि, अणवट्ठाणादो। ध. ६ पृ. १९९।

(ब) कारणेण विणा कज्जुप्पत्तिविरोहादो। ध. ७ पृ. ७०।

कथित तथा आचार्यों द्वारा संपालित वाणी से ही शुरू होना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥[2]

अर्थात् भद्रबाहु के इस शिष्य द्वारा वही कहा गया जो कि जिनेन्द्रोपदिष्ट है। इसी तरह यहाँ धवला, जयधवला, गोम्मट्टसार, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि जो भी आर्षवचन है उन्ही के अनुरूप कहा जायेगा। इसमें आप सिद्धान्त, अध्यात्म व न्याय भी चाहें तो उस अनुरूप भी समझाने का प्रयास करूँगा।

सर्वप्रथम गुणों को और दोषों को जाने, कारण—

बिन जानें तै दोष-गुनन को, कैसे तजिये गहिये।[3]

इस ससार में सम्यक् रत्नत्रय गुण-हितकारी है तथा ससार को बढ़ाने वाले तीनरत्न-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र दोष-अहितकारी।[4]

यह ससार को बढ़ाने वाला अहितकारी-मिथ्यात्व क्या है, आता कैसे है? इसे लाता कौन है? इसके आने के साधन क्या हैं? इन सभी बातो का विश्लेषण पूर्वाचार्यो ने विभिन्न अनुयोगद्वारों के द्वारा किया है।[5]

---

२. भावपाहुड गाथा ६१।

३. छहढाला— ३/११।

४. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु.।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति· ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३।

५. (अ) किमणिओगद्दार णाम ? अहियारो भण्णमाणत्थस्स अवगमोवाओ ॥
जयध. ३ पृ ७।

(ब) किं केण कस्स कत्थ व केवचिर कदिविधो य भावो य।
छहि अणिओगद्दारे सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ मूला. ७०७।

सिध्दान्त

मिथ्यात्व का स्वरूप—

मिथ्यात्व का काम अतत्त्व-श्रद्धान कराना है।[6] अपने-अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होना चाहिए, उसे यह मिथ्यात्व नहीं होने देता। अर्थात् छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का सम्यक् श्रद्धान इस मिथ्यात्व के उदय में नष्ट हो जाता है।[7] या सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती।[8]

मिथ्यात्व कैसे आता है? इसे जानने के लिए हमें पहले आस्रव और बंध की व्यवस्था को समझना होगा। आचार्यों ने आस्रव और बध की व्यवस्था गुणस्थानों के माध्यम से की है तथा प्रत्येक गुणस्थान में होने वाले आस्रव और बंध के कारणों का भी अलग-अलग सामान्य और विशेषरूप से उल्लेख किया है। गुणस्थानों का उत्पादन योग और मोह के निमित्त से होता है अत: उन्हें मोह और योगजन्य कहा जाता है।[9] प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शनमोह की मुख्यता है इससे आगे दसवें गुणस्थान तक चारित्रमोह की मुख्यता और अन्तिम चार गुणस्थानों में योग की मुख्यता होती

६ (अ) मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। स. सि. २/६ पृ ११४।

(ब) तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मन: तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरुप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। त रा. वा. २/६ पृ. ८४।

७ सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृति-षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। द्र. स. टी. १३ पृ २६।

८. जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धा होदि, तं मिच्छत्तं। ध. ६ पृ. ३८।

९ सखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। जी.का. ३ पृ. ३४।

है।[10] इन सभी गुणस्थानों में होने वाले आस्रव-बन्ध की व्यवस्था सभी पूर्वाचार्यों ने कषाय और योग के द्वारा ही मानी है।[11]

बन्ध के भेद व स्वरूप—

आगम में बन्ध के चार प्रकार कहे गये है–प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध।[12] पहले क्रम से इन चारों बन्ध को समझ लें। प्रकृति का अर्थ आप जानते ही हैं, स्वभाव। जैसे–पूछा जाये—नीम की क्या प्रकृति है? तो कहा जायेगा–कडुवापन। और गुड़ की क्या प्रकृति है? मीठापन।[13]

---

१०. (अ) आदिमचदुगुणट्ठाणभावपरूवणाए दंसणमोहवदिरित्तसेसकम्मेसु विवक्खा-भावा। ध. ५ पृ. १९७।

(ब) एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्त णत्थि जदो अविरद अंतेसु ठाणेसु॥ जी का १२ पृ ४३।

(स) उपशान्तकषाये क्षीणमोहे सयोगकेवलिनि चैकसमयस्थितिक सातावेदनीय-मेव बध्नाति। तच्च योगहेतुकबन्धं कषायोदयस्य तेष्वभावात्। क का १०२ पृ. ७३।

११. (अ) तत्र केचन मिथ्यादृष्ट्यादिसूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानपर्यन्ताना जीवाना योगा मोहोदयेन अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहकर्मविपाकेन युक्ता। अपि पुन तत उपरि त्रिषु गुणस्थानेषु तेन मोहोदयवियुक्ता रहिता आस्रवा भवन्ति। का अ ८८ पृ ४४।

(ब) प्रकृतिबन्ध· प्रदेशबन्ध इत्येतौ द्वौ योगनिमित्तौ वेदितव्यौ।
स्थितिबन्धोऽनुभवबन्ध इत्येतौ द्वावपि कषायहेतुकौ प्रत्येतव्यौ। रा. वा ८/३ पृ. ५६७।

(स) जोगा पयडि-पदेसे ट्ठिदि-अणुभागे कसायदो कुणदि। ध. १२ पृ. २८९।

(द) जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति। क.का. २५७ पृ. ३९३।

१२. (अ) सव्वेसिं कम्माणं ट्ठिदि-अणुभाग-पयडि-पदेसभेदेण बधो चउव्विहो चेव। ध. १२ पृ. २९०।

(ब) चतुर्विधा एव बन्ध इति॥ मूला. १२२७।

(स) प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधय। स सि. ८/३ पृ. २९४।

१३. (अ) प्रकृतिः स्वभाव। निम्बस्य का प्रकृति? तिक्तता। गुडस्य का प्रकृतिः? मधुरता। स. सि. ८/३ पृ. २९४।

इसी प्रकार कर्म का भी एक स्वभाव होता है इसे ही प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्म प्रदेशों की सीमा/परिगणना निश्चित करने वाला या कर्मरूप से परिणत पुद्गल परमाणुओं की जानकारी करके उनकी संख्या/इयत्ता निर्धारित करना प्रदेशबन्ध है।[14] जिस कर्म की जो प्रकृति है उससे एक निश्चित समय तक अपने स्वभाव को न छोड़ना स्थिति बन्ध है[15] और आगत कर्मों की अलग-अलग अपनी-अपनी शक्ति / सामर्थ्य को अनुभाग बन्ध कहते हैं।[16]

ये चारों प्रकार के बन्ध प्रत्येक गुणस्थान में होते हैं। जिनमें कषाय के द्वारा स्थिति और अनुभाग बन्ध की और योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेशबन्ध की व्यवस्था होती है।[17] अतः कषाय और योग यही बन्ध में मुख्यतया कारणभूत हैं।

बन्ध व्यवस्था—

आगम में अविरति तीन प्रकार की कही गयी है।[18] उनमें

(ब) यथा निम्बस्य का प्रकृति ? तिक्तता स्वभाव। गुडस्य का प्रकृति ? मधुरतास्वभावः। रा बा. ८/३ पृ. ५६७।

१४. (अ) इयत्तावधारणं प्रदेश। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कधाना परमाणुपरिच्छे-देनावधारण प्रदेश। स सि ८/३ पृ. २९५।

(ब) कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धाना परमाणुपरिच्छेदेनावधारण प्रदेश इति। रा बा ८/३ पृ ५६७।

१५. (अ) का ठिदी णाम ? जोगवसेण कम्मसरूवेण परिणदाण पोग्गलक्खंधाणं कसायवसेण जीवे एगसरूवेणावट्ठाणकालो ट्ठिदी णाम। ध. ६ पृ. १४६।

(ब) तत्स्वभावादप्रच्युति स्थिति। स. सि. ८/३ पृ. २९५।

१६ को अणुभागो ? कम्माण सगकज्जकरणसत्ती अणुभागो णाम। जयध ५ पृ. २।

१७. (अ) पयडि-पदेसा जोगादो ठिदि-अणुभागा कसायदो त्ति सत्तण्णं पि दो चेव पच्चया होंति। ध १२ पृ. २९०।

(ब) प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगाद्भवतः स्थित्यनुभागबन्धौ कषायतो भवत.॥ क का. २५७ पृ ३९४।

१८. अविरतिस्त्रिधा रा. बा ६/१८ पृ. ५२७।

प्रथम और द्वितीय गुणस्थान में होने वाले बन्ध में अनन्तानुबन्धी कृत अविरति की मुख्यता है। तीसरे और चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण एवं पांचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी अविरति पर बन्ध व्यवस्था निर्धारित है। इससे आगे अर्थात् छठवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक सञ्ज्वलन सम्बन्धी कषाय की मुख्यता से बन्ध चलता है। इस प्रकार के आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

कहा भी है कि जिसके उदय में सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त करना सम्भव नहीं वह अनन्तानुबन्धी कषाय है।[19] जो देश सयम का घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।[20] सकल सयम की विघातक प्रत्याख्यानावरण कषाय है[21] तथा यथाख्यात चारित्र को न होने देने वाली कषाय संज्वलन नाम की है।[22] इस तरह दसवें गुण-

१९. (अ) एदेहितो वड्ढिद संसारो अणतेसु भवेसु अणुबध ण छड्डेदि त्ति अणताणुबंधो ससारो। सो जेसि ते अणताणुबधिणो कोह-माण-माया-लोहा एदे चत्तारि वि सम्मत्त-चरित्ताण विरोहिणो, दुविहसत्ति संजुत्तत्तादो। ध. ६ पृ ४२।

(ब) सम्मद्दंसण-चरित्ताणं विणासया कोह-माण-माया-लोहा अणतभवाणुबधण-सहावा अणंताणुबधिणो णाम। ध १३ पृ. ३६०।

२०. (अ) अप्रत्याख्यान संयमासंयम। तमावृणोतीति अप्रत्याख्यानावरणीयम्। त चउव्विहं कोह-माण-माया-लोह भेएण। ध. ६ पृ ४४।

(ब) ईषत प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानमिति व्युत्पत्ते· अणुव्रतानामप्रत्याख्यानसंज्ञा। अपच्चक्खाणस्स आवारय कम्म अपच्चक्खाणावरणीय। ध १३ पृ.३६०।

२१ (अ) पच्चक्खाण संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो। पच्चक्खाणमावरेंति त्ति पच्चक्खाणावरणीया कोह-माण-माया लोहा। ध ६ पृ ४४।

(ब) पच्चक्खाणं महव्वयाणि, तेसिमावारणं-कम्मं पच्चक्खाणावरणीय। ध १३ पृ. ३६०।

२२ (अ) संजमम्हि मलमुप्पाइय जहाक्खादचारित्तुप्पत्तिपडिबंधयाण चारित्तावरणत्तविरोहादो। ते वि चत्तारि-कोह-माण-माया-लोहभेदेण। ध ६ पृ. ४४।

स्थान तक तो कषाय की बात हुई। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में जो आस्रव व बन्ध है वह कषायरहित मात्र योगकृत है।[23] इन तीनों गुणस्थानों मे सातावेदनीय का ही आस्रव एवं बन्ध है।[24] और उस बन्ध में भी साता का अनुभाग भी घटिया किस्म का नहीं बल्कि क्रमशः विशुद्धि बढ़ने के कारण बहुत मृदु और मधुर होता है[25]। इसे ईर्यापथिकास्रव कहा जाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि यहाँ पर कषाय के अभाव में स्थिति और अनुभागबन्ध कैसे होगा ? अतः थोड़ा इसे भी समझ ले।

इस प्रश्न के होते ही प्रतिप्रश्न होगा कि, इन गुणस्थानों में साता वेदनीय का बन्ध क्या बिना स्थिति-अनुभाग के होता है, तो उसका आत्मा के साथ अवस्थान एव फल साता के रूप में कैसे सम्भव है ? कारण, प्रकृति का अर्थ स्वभाव है और अनुभव का अर्थ है उस स्वभाव के अनुरूप उसे भोगना। ऐसी स्थिति में योग के द्वारा जिस कर्म मे प्रकृति पड़ी तो उसमें अनुभाग भी होगा। और जब अनुभाग है तो स्थिति बन्ध भी अवश्यम्भावी है। अतः इन गुणस्थानों में चारों प्रकार का बन्ध स्वीकार करना होगा। मात्र यहाँ इतना अन्तर अवश्य होगा कि जैसा कषायों के सद्भाव में स्थिति बन्ध होने पर उनमे आबाधाकाण्डक की रचना होती है परन्तु इन गुणस्थानों में आबाधाकाण्डक की रचना न होकर एक समय के बाद ही उदय में आ जाते हैं। अब उनका अन्तर्मुहूर्त्त या दो-तीन समय

(ब) सम्यक्ज्वलतीति सज्वलनम्। किमत्र सम्यक्त्वम् ? चारित्र सह ज्वलनम्। सम्मतदेससयलचरित्तजहक्खाद-चरणपरिणामे। घादंति वा कसाया चउसोल असंखलोगमिदा॥ जी का ४५ पृ. ३६।

२३ तच्च योगहेतुकबन्धकषायोदयस्य तेष्वभावात्। क का. १०२ पृ ७३।

२४. उपशान्तकषाये क्षीणमोहे सयोगकेवलिनि चैकसमयस्थितिकं सातावेदनीय-मेव बध्नाति। क. का १०२ पृ. ७३।

२५. अप्पं बादरमहुअं बहुअं लहुक्खं च सुक्किलं चेव। ध. १३ पृ. ४८।

आदि को रुकना सम्भव नहीं। इसीलिए इसे स्थितिबन्ध में नहीं कहा गया और अनुभाग भी कषायगत अनुभाग से अनन्तगुणाहीन होने के कारण अनुभाग बन्ध का भी निषेध है। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इन गुणस्थानों में कषाय का अभाव होने से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता ही नहीं।[26] इन गुणस्थानों की सारी व्यवस्था योग पर निर्भर होती है। अर्थात् तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक भी बन्ध होता रहेगा।[27] चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो गया अब वहाँ पर आस्रव की कोई बात ही नहीं है।[28] जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त इसी मायने में सबसे पृथक् और समीचीन है। इस प्रकार आचार्यों ने बन्ध की व्यवस्था की है जो अकाट्य है।

कषाय से ही मिथ्यात्व का बन्ध—

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि महाराज ! आपने कषाय और योग के अन्तर्गत ही सारे प्रत्ययों को अन्तर्गर्भित कर बन्ध-व्यवस्था कही है। लेकिन तत्त्वार्थसूत्रादि में तो 'मिथ्यादर्शनाविरति-

---

२६. अट्ठण्णं कम्माण समयपबद्धपदेसेहिंतो ईरियावहसमयबद्धस्स पदेसा संखेज्जगुणा होंति, सादं मोत्तूण अण्णेसि बधाभावादो। तेण ढुक्कमाण-कम्मक्खधेहि थूलमिदि बादर भणिद। अणुभागेण बादरं ति किण्ण घेप्पदे ? ण, कसायाभावेण अणुभागबधाभावादो। कम्मइयक्खधाण कम्मभावेण परिणमणकाले सव्वजीवेहि अणतगुणेण अणुभागेण होदव्वं, अण्णहा कम्मभावपरिणामाणुववत्तीदो त्ति ? ण एस दोसो, जहण्णाणुभागट्ठाणस्स जहण्णफड्डयादो अणतगुणहीणाणुभागेण कम्मक्खधो बंधमागच्छदि त्ति कादूण अणुभागबधो णत्थि त्ति भण्णदे। कारणेण ट्ठिदि-अणुभागेहि इरियावहकम्ममप्पमिदि भणिद। ध. १३ पृ ४९।

२७ सादावेदणीय जोगपच्चइय, सुहुमजोगे वि तस्स बधुवलंभादो। ध. ८ पृ. ७७

२८. जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पावसंजणया।
ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंतबलकलिया॥ जी. का. १५३ ध. १ पृ २८०।

प्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' ऐसा कहा है।[29] जिसमें मिथ्यात्व अविरति आदि पाँच बन्ध के हेतु होते हैं। यह विचारणीय है। इसे भी समझना होगा। पहले मिथ्यात्व प्रत्यय को समझ लें।

तत्त्वार्थसूत्र की विभिन्न टीकाओं में कहा गया है—"अनन्त-संसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्"।[30] अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है और 'तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः"[31] इस अनन्त मिथ्यात्व को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी है। विभिन्न टीकाकार व हिन्दी अनुवादकारों ने इस व्युत्पत्ति में प्रयुक्त पदों का अर्थ अलग-अलग ढङ्ग से लिया है।[32] यहाँ हम व्याकरण के आधार पर शब्दों का

२९ तत्त्वार्थसूत्र ८/१।

३० स० सि० ८/९ पृ. ३०१।

३१. स० सि० ८,९ पृ ३०१।

३२ (१) अनन्त संसार का कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है, तथा जो कषाय उसके अनुबन्धी हैं वे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ हैं। स सि ८/९ पृ. ३०१।

(२) अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं, इस अनन्त मिथ्यात्व को बाधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी है।-रा. वा. ८/९ पृ ७५२।

(३) अनन्त भवो को बाधना ही जिनका स्वभाव है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। ध. ६ पृ ४१।

(४) जो अनन्तभव के अनुबन्धन स्वभाव वाले होते हैं वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। अथवा अनन्तभवो मे जिनका अनुबन्ध चला जाता है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। ध १३ पृ. ३६०।

(५) अनन्त संसार का ...... उसके बांधने वाले अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ हैं। क का. ३३ पृ २६।

(६) अनंत संसार का ...... उसको जो बांधती हैं या उसके साथ जो बंधती हैं वे अनन्तानुबन्धी हैं। क. का. ४५ पृ. ३९।

(७) जिसका अन्त नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व उसका

सही अर्थ हृदयंगम कराने का प्रयास करेंगे। क्योंकि अर्थप्रत्यय और ज्ञानप्रत्यय, शब्द प्रत्यय के बिना ठीक व सही प्रयोजन तक नहीं पहुँचते।[33]

प्रत्येक ग्रन्थ में ऐसा कहा गया कि 'तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः' यह प्रयुक्त पद प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त है जो कर्त्तापने का सूचक है। किं च, संस्कृत में वाक्य प्रयोग तीन प्रकार से होता है—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।[34] अब यह देखना है कि उपर्युक्त पद किस वाच्यगत है। प्रथम तो कर्मवाच्य व भाववाच्यगत यह पद नहीं, कारण इसमें कर्म का प्रयोग द्वितीया विभक्ति के एकवचन में स्पष्ट है और कर्त्ता का प्रथमा

आश्रय पाकर जो बँधती हैं वह अनन्तानुबन्धी क्रोध ... लोभ हैं। जी का. २६ पृ ५७।

(८) अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व या अनन्तभव के संस्कारकाल को अनुबध्नन्ति बांधती हैं इसलिये उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जी. का. २८३ पृ. ४७४।

(९) जो क्रोध, मान, माया और लोभ मिथ्यात्व बन्ध के कारण होते हैं वे अनन्तानुबन्धी हैं। त. वृ ८/९ पृ ४७०।

(१०) अनन्तभवपर्यन्त रहने से तथा मिथ्यात्व, असंयमादि में अनुबध-अविनाभावी स्वभाववाली होने से इनका अनन्तानुबन्धी नाम सार्थक है। मूला १२३४ पृ. ३५७।

(११) जो क्रोध-मान-माया-लोभ अनन्त (मिथ्यात्व) से सम्बद्ध होते हैं उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। त वृ. ६/१ पृ. ४८०।

३३. (अ) तत्र च पञ्चास्तिकाना समो मध्यस्थो रागद्वेषाभ्यामनुपहतो वर्णपदवाक्य-सन्निवेशविशिष्टः पाठो वादः, शब्दसमय शब्दागम इति यावत्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयोच्छेदे सति सम्यगवाय परिच्छेदो ज्ञानसमयो ज्ञानागम इति यावत्। तेषामेवाभिधानप्रत्यय-परिच्छिन्नाना वस्तुरूपेणसमवाय संघातोऽर्थसमयः सर्वपदार्थ सार्थ इति यावत्। पं का. ३ पृ. ९-१० (अमृत.।)

३४ शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्। का सू. २/२०; आत्मनेपदानि भावकर्मणोः। का सू. २/३०। पृ ११५-११६।

विभक्ति के बहुवचन में। अब यह यदि कर्तृवाच्य में है तो वहाँ 'वे बांधती हैं' ऐसा अर्थ होगा। यदि कर्मवाच्य या भाववाच्य का प्रयोग होता भी तो वहाँ अर्थ 'बाँधी जाती हैं' होता और ऐसी अवस्था में पुनः प्रश्न हो जाता 'किसके द्वारा बाँधी जातीं हैं?' तब कहा जाता मिथ्यात्व के द्वारा। लेकिन ऐसा भी सम्भव नहीं, क्योंकि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय में बँधने वाली मात्र सोलह प्रकृतियाँ ही हैं।[35] अब यदि अनन्तानुबन्धी की चार और जुड़ जायें तो संख्या बढ़कर बीस हो जाएगी जो कि इष्ट नहीं। यदि कदाचित् कहो कि मिथ्यात्व के साथ ही उसका बन्ध होता है तो द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व के अभाव में अनन्तानुबन्धी के बन्ध का अभाव हो जाएगा, जबकि अनन्तानुबन्धी का बन्ध होता है तथा स्वीकार भी है।[36]

दूसरी 'अनुबन्धिनः' पद में 'अनु' का अर्थ यदि पश्चात् लिया जायेगा तब भी अर्थ स्पष्ट व शुद्ध नहीं होगा। कारण वहाँ अर्थ होगा 'मिथ्यात्व का उदय पहले, बाद में अनन्तानुबन्धी का बन्ध' तो जो यहाँ बन्धकाल में होने वाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एकसमयवर्ती ही होना चाहिए था, वह नाना समयवर्ती हो जाएगा। किन्तु वह इष्ट नहीं है। इन सब से स्पष्ट है कि वहाँ 'बांधतीं हैं' ही अर्थ संगत है, होगा।

तत्त्वार्थवृत्तिकार ने तो इसे और भी स्पष्ट शब्द दिये हैं— "अनन्तं मिथ्यात्वं अनुबध्नन्ति सम्बन्धयन्ति इत्येवंशीला ये क्रोधमान-

---

३५ सोलसकम्माणि मिच्छत्तपच्चयाणि, मिच्छत्तोदयेण विणा एदेसिं बंधाभावादो। ध ८ पृ. ७६।

३६ अणंताणुबंधि चउक्क–त्थीवेद–चउसठाण–पचसंघडण–दुभग–अणादेज्ज-णीचागोदाणं बधोदया सासणसम्माइट्ठिह्मि समं वोच्छिज्जंति, ण मिच्छाइट्ठिह्मि, अणुवलंभादो। ध. ८ पृ २१०।

३७. त वृ ८/६ पृ. २६७।

मायालोभास्ते अनन्तानुबन्धिनः"।[37] इसी तरह गोम्मट्टसार की टीका में "अनुबघ्नन्ति सुघटयन्ति" कहा गया है।[38] अतः वाक्य में 'अनुबघ्नन्ति' यह क्रिया हो गयी, अनन्तानुबन्धी कर्त्ता और मिथ्यात्व कर्म। इस तरह कर्तृवाच्य के इस प्रयोग से दर्पणवत् स्पष्ट हुआ कि मिथ्यात्व को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी ही है।

स्थितिबन्ध की हीनाधिकता भी कषाय पर निर्भर—

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि अगर मिथ्यात्व को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी है? जब स्वयं अनन्तानुबन्धी की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटाकोटिसागर है,[39] तब उसके द्वारा मिथ्यात्व में उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटिसागर की कैसे सम्भव है?[40] उसके द्वारा भैय्या इतना तो निश्चित है कि आगम में आचार्यों ने स्थितिबन्ध कषाय के द्वारा ही स्वीकार किया है। आप चाहे गुणधराचार्य को लें,[41] या आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त-भूतबलि को,[42] चाहे धवलादि ग्रंथों के रचयिता आचार्य वीरसेन को लें,[43] या गोम्मट्टसार के प्रणेता नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती को।[44] सभी ने कषाय के द्वारा ही स्थितिबन्ध माना है।

---

३८. जी० का० २८३ पृ. ४७४।

३९ सोलसण्हं कसायाणं उक्कस्सगो ठिदिबंधो चत्तालीससागरोवमकोडाकोडीओ। ध. ६ पृ. १६१।

४०. (अ) मिच्छत्तस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ। ध ६ पृ १५६।

(ब) त० सू० ८/१५।

४१ जय० ध० पु० १ पृ० २६१।

४२. कसायपच्चए ट्ठिदि-अणुभागवेयणा। ध. १२ पृ. २८८।

४३ णाणावरणीयट्ठिदिवेयणा अणुभागवेयणा च कसायपच्चएण होदि। ध १२ पृ. २८६।

४४ ठिदिअणुभागा कसायदो होंति। क. का. २५७ पृ. ३९३।

'मिथ्यात्व के द्वारा भी स्थितिबन्ध होता है' ऐसा मुझे एक भी जगह आगम में देखने में नहीं आया। यदि मिले, तो अवश्य दिखाइयेगा।

दूसरा, दर्शनमोहनीय को चारित्रमोहनीय कषायों में सम्मिलित भी नहीं किया।[45] मोहनीय का परिवार अट्ठाईस प्रकृतियों का ही है[46] यह सभी जानते हैं। लेकिन कषायों में पच्चीस प्रकृतियों की ही परिगणना की है।[47] उन पच्चीस में सोलहकषाय और नौ नोकषाय ही हैं।[48] साथ यह भी स्पष्ट कह दिया गया कि दर्शनमोहनीय की प्रकृति चारित्रमोहनीय रूप में सङ्क्रमित नही हो सकती, और ना ही चारित्रमोहनीय की दर्शन-मोहनीय रूप ही।[49] ऐसी स्थिति में दर्शनमोहनीय को कषाय मानना और उससे स्थितिबन्ध मानना कहाँ तक उचित है, यह स्वय विचारें।

मिथ्यात्व में सत्तर कोटाकोटिसागर की स्थिति पड़ती है तो वह कब किसे कैसे पड़ती है? यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय है। मैं पूछना चाहूँगा कि, क्या दर्शनमोहनीय के उदय में अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में प्रत्येक जीव को व प्रत्येक समय सत्तर

---

४५. षोडश कषाया नव नोकषायास्तेषामीषद्भेदो न भेद इति पञ्चविंशति-कषाया.। स. सि. ८/१ पृ. ३७५।

४६ मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ। ध. ६ पृ ४०।

४७. कइविहो कसाओ? कसाय-णोकसायभेएण दुविहो, पचवीसविहो वा। जयध. १ पृ. २६३।

४८. ज त चारित्तमोहणीयं कम्मं तं दुविहं, कसायवेदणीयं चेव णोकसाय वेदणीय चेव। ध ६ पृ. ४०-४५।

४९. (अ) दंसणमोहणीयस्स चारित्तमोहणीयसकमाभावादो। जयध. ३ पृ. जयध ८

(ब) दंसणमोहणीय चारित्तमोहणीयाणि एक्केक्कम्मि ण संकमंति पृ. ३३।

(स) दंसणमोहणीयं चरित्तमोहणीए ण संकमदि। ध. १६ प ३४१।

कोटाकोटि सागर की स्थिति नियम से पड़ती है? यदि हाँ, तो एकेन्द्रिय में भी उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का प्रसंग होगा, क्योंकि वहाँ उसका उदय हमेशा ही रहता है। लेकिन ऐसा मानना इष्ट नहीं है। कारण, एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध कभी भी नही होता।[50] क्योंकि कहा गया है कि जो चतुःस्थानीय यवमध्य के ऊपर अन्तःकोटाकोटिसागर स्थिति प्रमाण को बांधता हुआ स्थित है और अनन्तर उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त होकर जिसने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध किया है ऐसा जीव ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी है।[51] तब ऐसी स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तक जीव के ही सम्भव हुआ है।[52] दूसरी बात, तीव्र सक्लेश के साथ ही उत्कृष्ट

---

५०. (अ) एइंदियस्स मिच्छत्तस्सुक्कस्स ट्ठिदिबधो एगं सागरोवम। ध. ६ पृ १६४।

(ब) इयमपि परा स्थितिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्यावसेया। इतरेषामेकेन्द्रिया-दीना यथागमम्। रा. वा. ८/१५ पृ. ५८२।

५१. तत्थ ओघेण (मोहणीयस्स) उक्कस्सट्ठिदी कस्स? अण्णदरस्स जो चउट्ठाविय जवमज्झस्स उवरि अतोकोडाकोडिं बधतो अच्छिदो उक्कस्ससकिलेसं गदो। तदो उक्कस्सट्ठिदि पबद्धात्तस्स उक्कस्सय होदि। जयध. ३ पृ १६।

५२. (अ) अण्णदरेण पंचिदिएण साण्णमिच्छाइट्ठिणा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तग-देण सागारुवजोगेण जागारेण णियमा उक्कस्ससंकिलिट्ठेण बधल्लय जस्स त संतकम्ममत्थि ॥७॥ एवं दसणावरणीय-मोहणीय अतराइयाण। ध. १२ पृ १३।

(ब) ओघे. पचणा, णवदंसणा-असाद-मिच्छत्त० सोलसकसाय-णवु स० अरदि-सोगभय-दुगु-पंचिदियजादि-तेजा-क.-हुडसं.-वण्ण.४-अगुरु. ४-अप्पसत्थवि-तस ४- अथिरादिछक्क-णिमिण-णीचागो.-पचंतरा. उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो कस्स होदि? अण्णदरस्स चदुगदियस्स-पंचिदियस्स सण्णिस्स मिच्छादि-ट्ठिस्स सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तगदस्स सागारजागार-सुदोवजोगजुत्तस्स उक्कस्सियाए ट्ठिदीए उक्कस्सए ट्ठिदिसंकिलिस्से वट्टमाणस्स अथवा ईसिमज्झमपरिणामस्स। महाब. २ पृ. २५५।

स्थितिबन्ध होता है।[53] और कषाय की तीव्रता ही मुख्यतया तीव्र-संक्लेश का कारण है।[54] इसलिए मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबन्धी कषाय की तीव्रता में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होने में कोई बाधा नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान में संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के शुक्ल लेश्या भी रह सकती है लेकिन शुक्ललेश्या के कारण वह मात्र अन्तः कोटाकोटि सागर से अधिक स्थितिबन्ध नही करेगा।[55] इसका तात्पर्य हुआ कि कषाय की मन्दता में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सम्भव नहीं। मिथ्यात्व में कम या ज्यादा जो भी स्थिति पड़ेगी वह अनन्तानुबन्धी कषाय की मन्दता और तीव्रता पर ही निर्भर होगी। अर्थात् प्रथम गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी अपने तीव्रोदय में मिथ्यात्व में सत्तर कोटाकोटिसागर की उत्कृष्टस्थिति डालने की क्षमता रखती है, अन्य कोई सक्षम नहीं। अब भले ही अनन्तानुबन्धी की स्थिति चालीस कोटाकोटिसागर की पड़े, लेकिन उसे मिथ्यात्व में सत्तरकोटाकोटिसागर की स्थिति डालने की क्षमता है। जैसे एक माँ स्वय भले ही कम खाती हो, लेकिन परिवार के अन्य सदस्यों को अधिक से अधिक खिलाने की क्षमता-ममता अवश्य ही रखती है। या बाजार में व्यापारी के पास नगद राशि दस हजार ही हों फिर भी वह लाखों के व्यापार की क्षमता रखता है-करता है।

अनन्तानुबन्धी की विशेषता–

कोई कह सकता है–महाराज ! जब अनन्तानुबन्धी ही बन्ध व्यवस्था करती है तो सूत्र में मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुब-

---

५३. सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेस्सेण। क. का. १३४ (१३०।

५४. यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि। स.स ८।४ पृ. ६५।

५५. जयध. ३ पृ. ६।

ही कह देते ! लेकिन आचार्यों ने ऐसा नहीं कहा ? क्यों नहीं कहा ?......तो सुनो ! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी एक नहीं है। गुणस्थानों में उनकी अपनी-अपनी महत्ता है। मिथ्यात्व के साथ प्रथम गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी तो नियम से रहेगी ही, लेकिन दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के अभाव में भी अनन्तानुबन्धी रहती है।[56] अब यदि मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुबन्धी को रख देते तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थान का अन्तर ही समाप्त हो जाता। दोनों अलग-अलग गुणस्थानों में अपनी-अपनी मुख्यता रखते है। दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। धवलादि ग्रन्थों में स्पष्ट ही कहा गया है कि मिथ्यात्व के साथ उदय में रहने वाली कषाय जो कि अनन्तानुबन्धी है वह सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का घात करने वाली होती है।[57]

अनन्तानुबन्धी कषाय को लेकर तत्त्वार्थराजवार्तिक में एक विशेष बात और कही गयी है—यह कषाय मिथ्यादर्शनरुपी फलों को उत्पन्न करती है। अर्थात् मिथ्यादर्शन को उदय में आने के लिए रास्ता खोल देती है।[58] इसलिए सूत्र में अनन्तानुबन्धी नहीं रखा

---

५६. तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। रा वा. ६/१ पृ. ५८८।

५७. (अ) सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिवन्ध्यनन्तावन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र (सासादनगुणस्थाने) सत्त्वाद् भवति। ध. १ पृ. १६४।

(ब) सो जेसि ते अणताणुबंधिणो-कोध-माण-माया-लोहा। एदे चतारि वि सम्मत्त-चारित्ताणं विरोहिणो, दुविहसत्तिसंजुत्तत्तादो। ध. ६ पृ. ४२।

(स) आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीयाघ्नन्त्यणुव्रतं। तृतीयाः सयम तुर्या यथाख्यात क्रुधादय.॥ स. सा ता. १७८ पृ. २४६।

५८ अतएवास्यान्वर्थसंज्ञा-अनन्त मिथ्यादर्शन तदनुबन्धनादनन्तानुबन्धीति। स मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति। रा. वा. ६/ पृ. ५८६।

गया होगा। लेकिन इससे ऐसा भी नहीं मानना चाहिए कि मिथ्यात्व ही सब कुछ है अनन्तानुबन्धी कुछ नहीं।

मिथ्यात्वादि प्रत्यय एवं उनके साथ प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक—

तत्त्वार्थसूत्र में कहे गये सूत्र के विषय में कहा गया है कि पूर्व-पूर्व प्रत्ययों के रहने पर आगे-आगे के प्रत्यय नियमात्मक रूप से होते हैं।[59] अर्थात् जहाँ पर मिथ्यात्व प्रत्यय रहेगा, वहाँ पर अविरति आदि चारों अन्य प्रत्यय भी रहेंगे।[60] लेकिन आगे-आगे के प्रत्ययों के साथ पूर्व-पूर्व के प्रत्ययों के न रहने का नियम है। जैसे— सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरति-सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व के अभाव में शेष चार प्रत्यय अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेंगे ही। संयतासयत नामक पाँचवें गुणस्थान में (विरताविरत रूप) अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगे। प्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग रहेंगे।[61] कहीं-कहीं पर प्रमाद प्रत्यय को कषाय के अन्तर्गत भी ग्रहण कर लिया जाता है, कारण कि प्रमाद, संज्वलन

---

५९ तत्र मिथ्यादृष्टे पञ्चापि समुदिता बन्धहेतवः। सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यसयत-सम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारथ । संयतासयतस्याविरतिमिश्राः प्रमादकषायोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः। अप्रमत्तादीनां चतुर्णां कषाययोगौ। उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनां एक एव योग। अयोगिकेवली अबन्धहेतु । रा वा ८/१ पृ ५६४।

६० न चैवमेकैकहेतुक एव बन्ध पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्य बन्धहेतो. सद्भावात् । आ प २ पृ ३

६१. चदुपच्चइगो बधो पढमे उवरिमतिए तिपच्चइओ।
मिस्सगविदिओ उवरिमदुग च सेसेगदेसम्हि ॥
उवरिल्लपच्चए पुण दुपच्चओ जोगपच्चओ तिण्ण।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्ण होंति कम्माण। ध. ८ पृ. २४। एव क. का ७८७–७८८।

कषाय की तीव्रोदय की अवस्था ही है।[62] आगे अप्रमत्तसंयत से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो ही प्रत्यय होते हैं तथा आगे के शेष तीन गुणस्थानों में योग-प्रत्यय मात्र कहा गया है। इस प्रकार प्रत्ययों का विभाजन गुण-स्थानों की विवक्षा से किया गया है।[63]

जैसा पूर्व में कहा था, आगम में अविरति के तीन भेद किये गये हैं।[64] अविरति कहो या असयम कहो, बात एक ही है, दोनों समानार्थक शब्द है।[65] अनन्तानुबन्धीकृत अविरति, अप्रत्याख्याना-वरणकृत अविरति और प्रत्याख्यानावरणकृत अविरति। यह असंयम

---

६२. को पमादो णाम ? चदुसजलण-णवणोकसायाण तिव्वोदओ। चदुण्ह बधकारणाण मज्झे कत्थ पमादस्सतब्भावो ? कसायेसु कसायवदिरित्त-पमादाणु बलभादो। ध. ७ पृ ११।

६३. मिथ्यादृष्टेः पञ्चाप्यास्रवा बन्धहेतवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टे सम्यग्मिथ्यादृष्टेरसयतसम्यग्दृष्टेश्चाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणाश्चत्वार आस्रवा बन्धहेतवो भवन्ति। सयतासंयतस्य आर्यश्रावकश्राविकालक्षणस्य विरतिमिश्रा ह्यविरतिरास्रवो भवति, प्रमादकषाययोगाश्च तत्र आस्रवा भवन्ति। प्रमत्तसयतस्य प्रमादकषाययोगलक्षणा आस्रवास्त्रयो भवन्ति। अप्रमत्तापूर्वकरणबादरसाम्परायसूक्ष्मसाम्परायाणा चतुर्णां कषायो योग-श्चास्रवद्वय भवति। उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेको योग एवास्रव. अयोगकेवलिनस्तु आस्रवो नास्ति। त. वृ. ८/१ पृ. २५६।

६४. (अ) असंयमस्त्रिविधो वेदितव्य। कुतः ? अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानविकल्पात्। रा वा. ९/१ पृ ५९०।

(ब) असयमस्तावत् त्रिविधो भवति। ते के त्रयो विधा. ? अनन्तानुबन्धिकषा-योदयः अप्रत्याख्यानकषायोदयः प्रत्याख्यानकषायोदयश्चेति। त. वृ. ९/१ पृ ४७९।

६५. विरमण विरतिः न विद्यते विरतिरस्येत्यविरति. अथवा अविरतमविरतिर-संयम इत्यनर्थभेद.। जयध. ५ पृ. ७७७।

भी कषायों द्वारा ही उत्पन्न होता है।[66] प्रथम और द्वितीय गुण-स्थान में अनन्तानुबन्धीकृत अविरति की मुख्यता रहती है। आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी के अभाव में अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानजन्य अविरति ही रहती है। इसका तात्पर्य यही है कि मिथ्यात्व प्रत्यय के उदय में प्रथम गुणस्थान में जो बन्ध होगा वह मिथ्यात्व प्रत्यय नहीं करेगा; वह तो प्रथमगुणस्थान में मुख्यता से रहने वाली अनन्तानुबन्धी अविरति, कषाय और योग के द्वारा ही होगा। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों की व्यवस्था रहती है। वहाँ गुणस्थानों के योग्य द्रव्यप्रत्ययों के द्वारा आत्मा के क्रोधादि परिणाम-रूप भावप्रत्यय बन्ध कराने वाले होंगे।

यही कारण है कि आचार्यों ने मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखने वाली अलग-अलग प्रकृतियों का भी वर्णन किया है। मिथ्यात्व के उदय के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखने वाली सोलह प्रकृतियाँ कही गयी है।[67] अन्वय का अर्थ है कि एक के सद्भाव में दूसरे का सद्भाव और व्यतिरेक का अर्थ—एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होना।[68] जैसा मिथ्यात्व के साथ कहा वैसा ही अनन्तानुबन्धी के उदय के साथ भी पच्चीस प्रकृतियो का अन्वय-व्यतिरेक होता है।[69] अप्रत्याख्यानावरण के उदय के साथ दस

---

६६. न ६४ (ब) ही दृष्टव्य है।

६७ (अ) तत्थ मिच्छत्त-णवुंसयवेद-णिरयाउ-णिरयगइ—एइंदिय-बीइंदिय-तीइंदिय-चतुरिंदिय जादि-हुंडसठाण-असपत्तसवट्ट सरीरसघडण-णिरयगइपाओग्गाणुपुव्वी आदाव-थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणाण सोलसण्ह पयडीणं बंधस्स मिच्छत्तुदओ कारणं, तदुदयण्णय-वदिरेगेहि सोलसपयडीबंधस्स अण्णयव-दिरेगाणमुवलभादो। ध ७ पृ १०।

(ब) मिच्छाइट्ठिह्मि णट्ठबन्धसोलसपडीण बधस्स मिच्छत्तोदओ चेव पच्चओ तेण विणा तासि बधाणुवलंभादो। ध. ८ पृ. ५१।

६८ देखें, जैनसिद्धान्तप्रवेशिका खण्ड प्रथम प्रश्न- ७१ एव ७२ पृ. १२।

६९ सासणम्मि णट्ठवधपणुवीसपयडीणं अणंताणुबधीणमुदओ चेव पच्चओ, तेण विणा तासि बधाणुवलभादो। ध. ८ पृ.६१ तथा क.का. ९६ पृ. ६९।

प्रकृतियों का[70] तथा प्रत्याख्यानावरण के उदय के साथ चार प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक कहा गया है।[71] प्रमाद के साथ छह,[72] संज्वलन कषाय के उदय के साथ अट्ठावन प्रकृतियों का[73] और योग के साथ एक मात्र साता वेदनीय का अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार किया गया है।[74] इसे इस तरह समझें—जब मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरक आयु नरकगति आदि सोलह प्रकृतियाँ बँधेंगी, उस समय

७०. अपच्चक्खाणावरणीयकोध-माण-माया-मणुस्साउ-मणुस्सगदी-ओरालिय-सरीर-अंगोवंग-वज्जरिसहसंघडण-मणुस्सगदीपाओग्गाणुपुव्वीणबंधस्स अपच्चक्खाणावरणचदुक्कस्स उदओ कारणं, तेण विणा एदासिं बंधाणुवलभा। ध. ७ पृ ११। तथा क. का. ९७ पृ ७०।

७१. (अ) पच्चक्खाणावरणीय कोध-माण-माया-लोभाण बंधस्स एदासिं चेव उदओ कारण सोउदए विणा एदासिं बंधाणुवलभा। ध. ७ पृ. ११।

(ब) देशव्रतगुणस्थान चरमसमये स्वोदयेहेतुबंधत्वात् प्रत्याख्यानावरणाव्युच्छिद्यन्ते नियमेन। क का. ९७ पृ ७०।

७२. (अ) छट्ठे अथिरं असुह आसादमजसं च अरदिसोग च।
अपमत्ते देवाऊ णिट्ठवण चेव अत्थित्ति॥ क का ९८ पृ. ७१।

(ब) पमत्तसंजदम्मि णट्ठबंधछप्पयडीणं बंधस्स पमादो पच्चओ, तेण विणा तदणुवलभादो। ध. ८ पृ. ५१।

७३. मरणूणम्मि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य।
छट्ठेभागे तित्थ णिमिण सग्गमणपंचिंदी॥
तेजदुहारदुसमचउसुरवण्णगुरुगचउक्कतसणवय।
चरिमे हस्स च रदी भय जुगुच्छा य बोच्छिण्णा॥
पुरिसं चदु संजलणं कमेण अणियट्टि पंचभागेसु।
पढमं विग्घं दंसणचउ जस उच्च च सुहुमते॥ क. का. ९९-१०१ पृ. ७१-७२।

७४. (अ) सादावेदणीयबंधस्स जोगो चेव कारण, मच्छत्तासंजमकसायाणमभावे वि जोगेणेक्केण चेवेदस्स बंधुवलभादो तदभावे तदणुवलंभादो। ध. ७ पृ. १३।

(ब) उवसंतखीणमोहे जोगिम्मि य समइयट्ठिदी सादं।
णायव्वो पयडीण बंधस्संतो अणंतो य॥ क. का. १०२ पृ. ७३।

मिथ्यात्व का उदय अनिवार्य है। किन्तु जब मिथ्यात्व का उदय हो तो शेष पन्द्रह प्रकृतियाँ बँधें, ऐसा नियम नहीं है। लेकिन, उनमें से जिस किसी भी प्रकृति का बन्ध होगा तो वह मिथ्यात्व के उदय में ही होगा अन्यथा नही। इस अन्वय-व्यतिरेक को ध्यान में रखकर भी मिथ्यात्वादि प्रत्ययों का अलग से कथन किया गया है।

गुणस्थानों में गत्यागति का क्रम—

आचार्यों ने प्रत्येक विषय का बड़ी सूक्ष्मता के साथ विवक्षा को ध्यान में रखकर ही कथन किया है। गुणस्थानों की व्यवस्था भी दो तरह से की गयी है। गुणस्थानों का कथन एक व्याख्या क्रम से और दूसरा उत्पत्ति क्रम से किया गया है। व्याख्या क्रम की अपेक्षा देखा जाए तो प्रथम गुणस्थान के उपरान्त द्वितीय, तृतीय आदि गुणस्थान क्रम से आयेंगे।[75] लेकिन उत्पत्ति क्रम इससे भिन्न है। सादिमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा प्रथम गुणस्थान के उपरान्त तृतीय या चतुर्थ, कोई-सा भी हो सकता है।[76] सीधे पाँचवाँ या सातवाँ भी हो सकता है।[77] लेकिन जब कोई अनादिमिथ्यादृष्टि जीव यदि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो उसको सर्वप्रथम

---

७५ मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव। मूला ११९७ पृ ३१३।

७६ एक्को सम्मामिच्छादिट्ठी परिणामपच्चएण मिच्छत्तं, सम्मत्तं वा पडिवण्णो अंतरिदो। अंतोमुहुत्तेण भूयो सम्मामिच्छत्तं गदो। ध ५ पृ ११

७७ (अ) एक्को अट्ठावीससंतकम्मियमिच्छादिट्ठी असंजदसम्मादिट्ठी पमत्तसंजदो वा पुव्व पि बहुसो संजमासंजमगुणट्ठाणे परियट्टिदो परिणामपच्चएण संजमासंजम पडिवण्णो। ध ४ पृ. ३४९।

एक्को अट्ठवीससतकम्मिओ अण्णगदीओ आगंतूण मणुसेसु उप्पज्जिय गब्भादि अट्ठवस्सिओ जादो। सम्मत्त अप्पमत्तगुणं च जुगवपडिवण्णो। ध ५ पृ. ५३।

(ब) मिथ्यादृष्टिः सासादनप्रमत्ते वर्जित्वा मिश्राद्यप्रमत्तातानि चत्वारि-गुणस्थानि समाश्रयन्ति। क. का. टी. ५५७-५५८ पृ. ९०३।

चतुर्थगुणस्थान ही होगा।[78] यदि संयमासंयम को ग्रहण करेगा तो पंचम गुणस्थान प्राप्त होगा।[79] और यदि संयम को भी ग्रहण कर ले तो युगपत् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि होने से वह सप्तम गुणस्थान को प्राप्त करेगा।[80] द्वितीय गुणस्थान नीचे गिरने की अपेक्षा होता है[81] तथा तृतीय गुणस्थान गिरने व चढने दोनों की अपेक्षा से प्राप्त किया जाता है।[82] सप्तम गुणस्थान से च्युत हुये संयमी को छठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।[83] इस तरह गुणस्थान का उत्पत्तिक्रम व व्याख्याक्रम अलग-अलग है।

व्याख्याक्रम की अपेक्षा इन गुणस्थानों की प्राप्ति निम्न प्रकार से होती है—प्रथम गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति होती है। इसका आशय यह है कि उन प्रकृतियों का बन्ध दूसरे आदि गुणस्थानों में नहीं होता।[84] द्वितीय गुणस्थान मे

---

७८. एक्केण अणादिमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण पढमसम्मत्त गेण्हतेण अणंतो ससारो छिंदिदूण गहिदसम्मत्त पढमसमए अद्धपोग्गल-परियट्टमेत्तो कदो। ध. ५ पृ १४।

७९. . . सम्मत्तेण सह गहिदसजमासजमेण अतोमुहुत्तमच्छिय। ध ५ पृ १५।

८०. एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि वि करणाणि करिय उवसम-सम्मत्तमप्पमत्तगुण च जुगवं पडिवण्णेण छेत्तूण अणंतो ससारो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो पढमसमए कदो। ध ५ पृ १६।

८१. जेत्तियाए उवसमसम्मत्तद्धाए सेसाए जीवो सासण पडिवज्जदि तेत्तिओ चेव सासणगुणकालो होदि त्ति, आइरिय परपरागदुवदेसा। ध. ४ पृ ३४१।

८२ (अ) वेदगसम्मादिट्ठी सकिलिस्समाणो सम्मामिच्छत्त गदो। ध ४ पृ ३४५।
(ब) एक्को मिच्छाइट्ठी विसुज्झमाणो सम्मामिच्छत्त पडिवण्णो। ध ४ पृ ३४४।

८३. अप्पमत्तसजदो किमिदि सम्मामिच्छत्त ण णीदो ? ण तस्स सकिलेस-विसोहीहि सह पमत्तापुव्वगुणे मोत्तूण गुणतरगमणाभावा। ध. ४ पृ ३५३

८४ मिच्छत्त-णवुसयवेद . . . साहारणसरीराणं को बधो को अबधो ? मिच्छाइट्ठी बधा। एदे बधा अवसेसा अबधत्ता॥ ध ८ पृ. ४२-४३।

पच्चीस प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति कही गयी है।[85] लेकिन यदि उत्पत्तिक्रम की अपेक्षा देखें तो प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में जाने वाले जीव के प्रथम, द्वितीय और तृतीय तीनों गुणस्थानोंमें व्युच्छिन्न होने वाली क्रमशः सोलह्-पच्चीस-शून्य-ऐसी इकतालीस प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति एक साथ प्रथम गुणस्थान में ही हो जाती है। क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुआ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्ध-परिणामो को बढ़ाता हुआ प्रायोग्यलब्धि के प्रथम समय से लेकर क्रम-क्रम से चौतीस प्रकृतियों का बन्धापसरण करता है।[86] इसके उपरान्त सम्यक्त्व परिणाम के माहात्म्य से मिथ्यात्व के तीन खण्ड करता है।[87] और इस तरह मिथ्यात्व सम्बन्धी तीन प्रकृतियों के उपशम और अनन्तानुबन्धी के अनुदय रूप उपशम से 'उपशम-सम्यग्दृष्टि' इस सज्ञा को प्राप्त होता है।[88] इस प्रकार से इकतालीस प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त होने वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

---

८५ सोलस पणवीस णभचदु छक्केक्क बधवोछिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥ क का ९४ पृ. ६८।

८६ ततो उदय सदस्स य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बंधम्मि पयडि बधुच्छेदपदा होंति चोतीसा ॥ ल. सा. १० पृ. ९।

८७ ताधे चेव तिण्णि कम्मंसा उप्पादिदा।
तम्हि चेव उवसंतदंसणमोहणीयपढमसमए तिण्णि कम्मसा उप्पादिदा। जयध. १२ पृ २८१।

८८. ' एदासि (अणंताणुबंधिचउक्कस्स दसणमोहत्तयस्स च) सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होदि। ध. १ पृ. १७१।

बन्ध व्युच्छित्ति और बन्धापसरण में अन्तर—

बन्ध व्युच्छित्ति और बन्धापसरण में इतना ही अन्तर है कि बन्धापसरण में चौतीस प्रकृतियाँ बन्ध योग्य समय से कुछ पहले ही व्युच्छिन्न हो जाती है। अर्थात् व्युच्छित्ति का स्थान व काल आने से पहले ही व्युच्छिन्न—बन्ध रुक जाता है।[८९] इसे एक उदाहरण से समझ लेते हैं—किसी म० प्र० के ट्रक वाले के पास उत्तरप्रदेश में जाने का लाइसेंस है, तो उसे दोनों प्रदेशों की सीमा पर रुककर अपना लाइसेंस बताकर ही सीमा पार करनी होती है। सीमा पार हो जाने पर अब कोई डर नहीं रह जाता। उसे कही भी रोक-टोक नहीं होगी। यह तो बन्धव्युच्छित्ति हुई। लेकिन सीमा तक पहुँचने से पूर्व ट्रक वाले को जो जगह-जगह पर बेरियर लगे है उन पर रुकना पड़ता है। उन पर भी अपनी गाड़ी का परमिट चैक कराना पड़ता है, तभी आगे-जाने का रास्ता साफ होता है। यही स्थिति बन्धापसरण की भी है। अर्थात् इसमें अपनी सीमा आने से पूर्व ही कुछ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाया करती है।

विसंयोजना सम्बन्धी समाधान—

यहाँ पर स्वाध्यायी जीवों की दृष्टि हमेशा जाती है और जाकर रुक जातो है, समाधान नही मिल पाता है। अतः वे शंका करते है—महाराज! अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से जब मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है तो उसके एक आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का

---

८९ दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाले जीव के असातावेदनीय कर्म, स्त्रीवेद, अरति, शोक, चारो आयु, नरकगति, पचेन्द्रिय जाति के बिना चार जाति, प्रथम सस्थान के बिना पाँच सस्थान, प्रथम संहनन के बिना पाँच संहनन नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, अप्रशस्तविहायोगति स्थावर सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति, ये प्रकृतियाँ बन्धस्थान मे पहले ही व्युच्छिन्न हो जाती हैं। क. पा. सु पृ. ६१७--६१८।

अनुदय रहता है। तब ऐसी स्थिति में आपका यह कहना कि मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी का सद्भाव हमेशा रहता है और मिथ्यात्व में स्थिति व अनुभाग डालने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी ही है—ठीक नहीं। क्योंकि एक आवली तक अनन्तानुबन्धी का अनुदय रहने से वहाँ बन्ध व्यवस्था कैसे बनेगी ?

भैय्या ! इस गहन विषय को समझने के लिए हमे धवला, जयधवलादि जैसे महान् आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन-मनन-चिन्तन करने की आवश्यकता होगी। पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक व्यवस्थाएँ विवक्षाओं को ध्यान में रखकर की है। अतः हम उन्हें उनके अभिप्रायानुसार ही समझने की चेष्टा करें।

विसंयोजना की परिभाषा, स्वामी एवं अध्वान--

विसंयोजना का अर्थ है--अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ का परप्रकृतिरूप अर्थात् शेष बारह कषाय और नौ नोकषाय रूप परिणमा देना।[९०] अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना वेदकसम्यग्दृष्टि[९१] और उपशम सम्यग्दृष्टि[९२] दोनों ही कर सकते है। विसयोजना की सीमा चतुर्थगुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त है।[९३] अर्थात् इन गुणस्थानों में कहीं भी

९० का विसयोजणा ? अणताणुबधिचउक्कक्खधाणं परमरूवेण परिणमण विसयोजणा। जयध २ पृ २१६।

९१. अट्ठावीससंतकम्मिएण अणंताणुबधी विसजोइये चउवीस विहत्तियो होदि। को विसंजोअओ ? सम्मादिट्ठी। जयध २ पृ २१८।

९२ देखें—न० ९१।

९३ (अ) सत्थाणसजदउक्कस्सगुणसेडिगुणगारादो असजदसम्मादिट्ठी-सजदासजदा-सजदेसु अणताणुबधि विसजोएन्तस्स जहण्णगुणसेडिगुणकारो असखेज्जगुणो। ध १२ पृ ८२।

(ब) असंयतादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽनिवृत्तिकरणपरिणामकालान्तर्मुहूर्तचरम-समयेऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कं ॥ ३३५ ॥ युगपदेव विसयोज्य द्वादश-कषायनवनोकषायरूपेण परिणामय्य ।क का ३३५–३३६ पृ. ५५५।

विसंयोजना की जा सकती है। विसंयोजना केवल अनन्तानुबन्धी चतुष्क की ही होती है।[94] विसंयोजना और क्षय में यही अन्तर है कि विसंयोजना में विसंयोजित किया गया द्रव्य अपना अध्वान—बन्धोदय की सीमा व काल प्राप्त होते ही पुनः संयोजित हो जाता है। जबकि क्षय होने पर यह सम्भव नहीं है।

संयोजना होने का कारण—

जब कोई वेदक या उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है तो विसंयोजना के उपरान्त वह मोहनीय की चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाला हो जाता है। क्योंकि अट्ठाईस प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियाँ विसयोजित कर दी गयी है।[95] किन्तु ज्यों ही ऐसा जीव मिथ्यात्व के उदय से प्रथम गुणस्थान या सासादन परिणाम के कारण द्वितीय गुणस्थान मे आता है तो उस जीव के उसी समय चौबीस प्रकृतियो का सत्त्व व प्रवेशस्थान* नष्ट होकर अट्ठाईस प्रकृतियो का सत्त्व व प्रवेशस्थान बन जाता है।[96] अर्थात् जो अनन्तानुबन्धी का द्रव्य अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनरूप में विद्यमान था वह परिणाम के माहात्म्य से तत्काल ही अनन्तानुबन्धी चतुष्करूप से परिणत हो जाता

---

९४ इस विसयोजना को करने वाला नियम से सम्यग्दृष्टि जीव होता है, क्योंकि उसके बिना अन्य जीव के विसंयोजना के योग्य परिणामों का होना असम्भव है। क पा मु ६७ पृ ६१ विशे।

९५ देखें - नं० ६१।

* प्रवेशस्थान से तात्पर्य-तत्कर्म का उदयावलि मे प्रवेश होने से है।

९६ अट्ठावीससतकम्मियवेदयसम्माइट्ठी अणंताणुबंधिचउक्क विसंजोइय चउवीस पवेसगो होदि तदो सव्वजहण्णंतोमुहुत्तेण मिच्छत्तं गदो तस्स विदियसमए चउवीसपवेसट्ठाणं फिट्टिदूणट्ठावीसपवेसट्ठाणं जादं।

जयध १० पृ १३६।

है तथा उदय में भी आ जाता है।[97] इसका नाम है संयोजना। अर्थात् अतत्त्व श्रद्धान या सासादन परिणाम के कारण विसंयोजित अनन्तानुबन्धी ही संयोजित होकर उदयगत हो जाती है।[98]

संयोजना में विशेष ध्यातव्य-मन्तव्य—

संयोजना की प्रक्रिया में कुछ विशिष्ट समझने योग्य स्थल हैं—एक, परिणामों के माहात्म्य से शेष कषाय रूप द्रव्य का तत्क्षण अनन्तानुबन्धी रूप में परिणत होकर उदय मे आ जाना। दूसरा, सत्ता में भी शेष कषायों का अनन्तानुबन्धी रूप में सक्रमण—संयोजन होना, अर्थात् अट्ठाईस का सत्त्व व प्रवेशस्थान बनना। तीसरा, अनन्तानुबन्धी के उदय से नये बन्ध की भी शुरुआत होना।

उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान मे रखकर ही हमें अनन्तानुबन्धी की संयोजना और अनुदय पर विमर्श करना है। इस प्रसंग मे यह बात तो निश्चित है कि यहाँ पर अनुदय का अर्थ उदय के सर्वथा अभाव रूप से ही विवक्षित हो—ऐसा नहीं है। फिर किस अर्थ में अनुदय का प्रयोग किया गया होगा? व्याकरण के अनुसार नञ् (निषेध) का प्रयोग ईषत् अर्थ मे भी होता है। जैसे—अनुदरा कन्या। यहाँ अनुदरा का आशय उदर रहित से नहीं बल्कि कृश (ईषत्) उदर से लिया जाता है।[99] इसी तरह यहाँ सम्भव है

---

९७ कध पुव्वमसतस्साणताणुबंधिकसायस्स तत्थुदयसभवो? ण, परिणामपाहम्मेण सेमकसायदव्वस्स तक्कालमेव तदायारेण परिणमिय उदयदंसणादो। जयध १० पृ १२४।

९८ कुदो? अणताणु चउक्क णिस्सत्तीकयसम्माइट्ठिणा मिच्छत्ते सासणसम्मत्ते वा पडिवण्णो तस्स पढमसमए चेव अणताणु. चउक्कस्स ट्ठिदिसतुप्पत्तीदो। कुदो? असतस्स अणंताणु चउक्कस्स उप्पत्ती? ण, मिच्छत्तोदएण कम्मइयवग्गणक्खंधाणमणताणु चउक्कसरूवेण परिणमण पडि विरोहाभावादो। जयध ४ पृ. २४।

९९ अनुदरी कुमारीत्यत्र उदराभावत कुमार्य्याः मरणप्रसगाच्च। ध ६ पृ. ४४।

ईषत् उदय को ही अनुदय कहा गया हो।

किंच, अनन्तानुबन्धी की संयोजना के उपरान्त उसका कम से कम अवलिकाल तक उदय नहीं हो सकता।[100] अतः हो सकता है कि इस अपेक्षा से एक आवली तक अनन्तानुबन्धी का अनुदय मानने का प्रसङ्ग हो।

पुनः, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के पश्चात् जो जीव प्रथमगुणस्थान को प्राप्त होता है तब उसके पहले समय से ही अनन्तानुबन्धी का उदय और बन्ध दोनों ही एक साथ शुरू हो जाते हैं। लेकिन प्रथम समय में उदयगत निषेको में अनन्तानुबन्धी का जो अनुभाग सत्कर्म है वह सबसे जघन्य होता है। उस अनुभाग से सूक्ष्मनिगोदिया जीव का जघन्य अनुभाग सत्कर्म अनन्तगुणा कहा गया है।[101] इस अनुभाग की जघन्यता को दृष्टिगत करके ही अनुदय का कथन आचार्यों के द्वारा किया जाना सम्भव है।

किच, उदीरणा की चर्चा करते हुए आचार्यों ने लिखा है कि मिथ्यात्व की उदीरणा करने वाला जीव अनन्तानुबन्धी का कदाचित् उदीरक है, कदाचित् अनुदीरक भी है।[102] उदीरणा का तात्पर्य है—किन्ही विशिष्ट क्रियाओं या अनुष्ठानो के द्वारा कर्म को अपने समय से पूर्व ही पकाकर उदयगत करना या अपकर्षण के

---

१०० कर्म बंधने पर एक आवली काल तक तो जैसा बंधा वैसा ही रहता है, उदयरूप या उदीरणरूप नही होता। क का १५९ पृ. १८६ हि।

१०१. अणंताणुबधीण जहण्णयमणुभागसतकम्म कस्स ? सुगम। पढमसमय-सजुतस्स। सुहुमेइंदिएसु जहण्णसामित्त किण्ण दिण्ण ? ण, पढमसमय-सजुतस्स पचग्गाणुभागबध पेक्खिदूण सुहुमणिगोदजहण्णाणुभागसंतकम्मस्स अणंतगुणत्तादो। जयध ५ पृ ११६।

१०२. (अ) ओघेण मिच्छत्तमुदीरेतो सोलसक णवणोक. सिया उदीर. सिया अणुदीर। जयध १० पृ २९।

(ब) मिच्छत्त उदीरेंतो सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणमणुदीरओ, अणंताणुबधिस्स सिया उदीरओ सिया अणुदीरओ। ध १५ पृ. ७५।

द्वारा अपने समय से पूर्व ही उदय में ले आना।[103] तब ऐसी कौन-सी स्थिति होती होगी जब कि जीव मिथ्यात्व की तो उदीरणा कर रहा हो और अनन्तानुबन्धी का अनुदीरक हो ? तब समाधान दिया गया कि अनन्तानुबन्धी कषाय का संयोग अर्थात् पुनः संयोजना होने पर संयोजना के प्रथम समय से लेकर एक आवली काल पर्यन्त नियम से उदीरणा होना सम्भव नहीं है।[104] और इसी बात को लेकर आचार्यों ने अनन्तानुबन्धी का अनुदय भी कहा हो, सम्भव है।

अनुदय के प्रसङ्ग में एक और विचारणा है कि विसयोजना के समय अनन्तानुबन्धी न सत्ता मे, न उदयावलि में और ना ही उदय में है। तीनों स्थानों में वह अप्रत्याख्यानावरणादिक के रूप में है। लेकिन जैसे ही परिणामों के माहात्म्य से सयोजना हुई कि प्रथम समय से ही अनन्तानुबन्धी का उदय आरम्भ हो जाता है। अर्थात् उदयागत कषाय ही अनन्तानुबन्धी के रूप में परिणत हो गयी और सत्ता में भी चौबीस की जगह अट्ठाईस का सत्त्वस्थान हो गया। अब इस सत्तागत अनन्तानुबन्धी के निषेकों को उदय समय तक प्राप्त होने में एक आवली काल मे उदयावलि को पार करना होगा। क्योंकि उदयावलि में तो अभी भी अप्रत्याख्याना-वरणादिक कषाय का ही द्रव्य विद्यमान है। इसलिए हो सकता है, चूंकि सत्तागत अनन्तानुबन्धी एक आवली काल के उपरान्त ही उदय में आयेगी, इस अपेक्षा अनुदय कहा हो।

---

१०३. (अ) का उदीरणा णाम ? अपक्वपाचनमुदीरणा। ध. ६ पृ. २१४।
(ब) अणुभागा पयोगेण ओकड्डियूण उदये दिज्जंति सा उदीरणा।
जयध. ११ पृ. २

१०४. सजोजिदअणताणुबंधीणमावलियामेत्तकालमुदीरणाभावादो।
ध. १५ पृ. ७५।

इस सबसे स्पष्ट है कि आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ चिन्तन किया और कहा है। उन्होंने जहाँ एक ओर परिणाम के माहात्म्य से सयोजित अनन्तानुबन्धी का प्रथम समय से ही उदय स्वीकार किया और वहाँ उदयव्युच्छित्ति का स्थान न होने से उसका उदय भी अवश्यम्भावी है।[105] वहीं दूसरी ओर सयोजना के प्रथम समय से लेकर आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का अनुदय भी स्वीकृत किया। ये दोनों बाते परस्पर विरुद्ध होते हुए भी विवक्षा भेद से समझने-सोचने पर अपनी-अपनी जगह सही–अविरुद्ध हैं। प्रस्तुत किये गये सन्दर्भों को देखते हुए आपको भी खूब विचार-विमर्श करके इस विषय में समाधान की ओर गति करना चाहिए। कम से कम विद्वज्जनो से ऐसा तो आपेक्षित है ही।

उदयावलि में अनन्तानुबन्धी की रिक्तता का हेतु–

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि संयोजना होने पर अनन्तानुबन्धी सत्ता और उदय में तो रहती है लेकिन उदयावलि मे क्यों नही है? इसे समझने के पहले हमें विसयोजना की सम्पूर्ण प्रक्रिया को ध्यान में रखना होगा। जब कोई वेदक सम्यग्दृष्टि या उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है तो वह अट्ठाईस के सत्त्व से चौबीस प्रकृतिक सत्त्व वाला हो जाता है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क का पर–प्रकृतिरूप विसंयोजन यानि संक्रमण हो गया। यहाँ पर संक्रमण की होने वाली प्रक्रिया मात्र सत्तागत द्रव्य में ही होती है, ना कि उदयावलि या उदय समय में। अतः उदयावलि के द्रव्य को एक आवलि काल तक उदय में रहने वाली अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायों रूप स्तिबुक संक्रमण के

१०५. पण्णरकसायभयदुगहस्सदु चउजाइपुरिसवेदाणं।
समभेक्कत्तीसाण सेसिगिसीदाण पुव्वं तु ॥ क. का ४०१ पृ. ६४६।

द्वारा उदय से एक समय पूर्व ही क्रमशः परिणत कराता हुआ उदयावलि को खाली कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे एक आवली तक उदयावली अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना होने पर भी रिक्त नहीं हुई। उसी प्रकार संयोजना के समय भी एक आवली तक अनन्तानुबन्धी उदयावली को पार कर उदय में नही आ पाती। कारण उदयावली में स्थित द्रव्य में मात्र स्तिबुक संक्रमण के अलावा सभी दसों करणों का अभाव पाया जाता है।

रिक्तता के हेतु में उदाहरण--

सयोजना की इस प्रक्रिया को सहजता से समझने के लिए उसे एक उदाहरण के माध्यम से समझे। उदाहरण हमेशा एकदेश होता है, इस बात को ध्यान मे रखकर ही हम उसे समझें।

मान लो एक कांच की टंकी है जिसमे पानी निकलने के लिये एक पाइप लगाया गया और पाइप के दूसरे सिरे पर एक टोंटी लगी हुई हैं। सभी चीजे काँच की है। कारण, अन्दर होने वाली क्रिया-प्रक्रिया को बाहर से ही देखा जा सके। टंकी को हम यहाँ सत्ता का प्रतीक निर्धारित करते है पाइप को उदयावली और टोंटी, उदय की प्रतीकरूप है। टंकी पाइप व टोंटी तीनों में सादा पानी भरा गया है अर्थात् जैसे अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना से निर्मलता आ गई हो। यानी उदय, उदयावली और सत्ता में अनन्तानुबन्धी का अभाव है। अनन्तानुबन्धी को रङ्ग के रूप में लेंगे। लेकिन अब संयोजना हुई तो अनन्तानुबन्धी की सत्ता हो गयी अर्थात् टंकी के पानी में रङ्ग घोल दिया गया। जिससे सत्ता टंकी का सारा पानी रंगीन हो उठा। इसके साथ ही टोंटी में उसी रंग से युक्त एक कपड़ा लगा दिया। जिससे टोंटो से पानी निकलने

पर रंग से युक्त होकर ही निकले। किन्तु अभी भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि पाइप का पानी रंगहीन है। जब परिणामों के माहात्म्यस्वरूप टोंटी में लगे कपड़े से पानी निकलना प्रारम्भ होता है तो वह रंगयुक्त ही निकलता है। लेकिन अब जरा गौर से देखिये कि पाइप मे रहने वाले स्वच्छ पानी में पीछे से टंकी का रगीन पानी प्रवेश कर रहा है और ज्यो-ज्यों पाइप का पानी टोंटी से रंगीन हो निकलता जा रहा है त्यों-त्यों पाइप मे रंगीन पानी अधिक होता जा रहा है, और अन्त मे सादा पानी समाप्त ही हो जाता है और सम्पूर्ण पाइप मे भी रंगीन पानी आ जाता है। यही दशा संयोजना के उपरान्त एक आवली काल तक अनन्तानुबन्धी की होती है। जैसे रंगीन पानी को टोंटी तक आने में पाइप मे भरे पानी के निकलने तक का काल लगा। वैसे ही सत्तागत द्रव्य को उदयसमय तक आने मे एक आवली काल आपेक्षित रहता है। जिसे ही सम्भवत. अनुदय कहा गया हो। अनुदय कहने पर भी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि परिणामो के माहात्म्य से अनन्तानुबन्धी उदय मे तत्काल ही आ जाती है।

संयोजना का अर्थ, नया बन्ध नहीं--

कुछ विद्वान् सयोजना का अर्थ अनन्तानुबन्धी के नये बन्ध से लेते हैं लेकिन ऐसा अर्थ ठीक नही है।[106] यदि संयोजना का अर्थ नवीन बन्ध करते है तो सिद्धान्त से विरोध आयेगा। पहली बात तो यह कि अनन्तानुबन्धी के अभाव में यह नया बन्ध किसके

---

१०६ अणताणुबधीण जहण्णओ पदेसउदओ कस्स ? अभवसिद्धिय पाओग्ग-जहृण्णसतकम्म कादूण सम्मत्त सजमासजम सजमं च बहुसो लद्धूण चत्तारिवारे कसायउवसामेदूण पुणो विसजोइद सजुत्त कादूण वेछावट्ठीओ सम्मत्तमणुपालिय मिच्छत्त गदो, तस्स आवलियमिच्छाइट्ठिस्स अणताणुबधीणं जहण्णओ पदेसउदओ।

द्वारा होगा ? यदि कहें कि मिथ्यात्व के द्वारा; तो भी गलत ही है क्योंकि आगे कहा जाएगा कि मिथ्यात्व तो भावात्मक होता है, अतः उसके उदय से जीव में अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव का ही अनुभव होगा। वह बन्ध नहीं कराता। साथ ही अनन्तानुबन्धी के नये बन्ध के लिए अनन्तानुबन्धी का उदय भी होना आवश्यक है। जबकि अभी अनन्तानुबन्धी का उदय ही नही है तब बन्ध कैसे ? इसलिए सयोजना होना अलग है और अनन्तानुबन्धी का नया बन्ध होना अलग बात है। दोनो को एक मानना हमारी सिद्धान्त अज्ञता ही होगी। इसके लिए हमें धवला, जयधवला आदि विशिष्ट सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। जिनसे ज्ञात होगा कि आगम मे बन्ध के दो भे दो की चर्चा है—अकर्मबन्ध तथा कर्मबन्ध।[107]
कार्मण वर्गणाओ के पुद्गल परमाणु जो अभी कर्मरूप से परिणत नहीं है उनके द्वारा होने वाला बन्ध अकर्मबन्ध कहलाता है।[108] तथा कर्मरूप मे पहले से स्थित पुद्गल परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप परिणमन करना कर्मबन्ध कहलाता है।[109] इस विवक्षा को

– अनन्तानुबन्धी कषायो का जघन्यप्रदेश उदय किसके होता है ? अभव्यसिद्धिक के योग्य जघ य सत्कर्म को करके, सम्यक्त्व, सयमासयम और सयम को बहुत बार प्राप्त करके, चार बार कषायो को उपशमाकर फिर से भी विसयोजित सयुक्त करके (अनन्तानुबन्धी कषायो को बांधकर) दो छयासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व को पालकर जो मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है उस आवलीकालवर्ती मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबधी कषायो का जघन्य प्रदेश उदय होता है। ध १५ पृ ३०४।

१०७. दुविहो बधो, अकम्मबधो कम्मबधो चेदि। जयध. ८ पृ २।

१०८. तत्थाकम्मबधो णाम कम्मइयवग्गणादो अकम्मसरूवेणोवट्ठिदपदेसाण गहण। जयध. ८ पृ २।

१०९. कम्मबधो णाम कम्मसरूवेणावट्ठिदपोग्गलाणमण्णपयडिसरूवेण परिणमण। जयध ८ पृ. २।

ध्यान में रखकर विचार किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि अनन्तानुबन्धी का नया बन्ध होना अकर्मबन्ध है, जो कि संयोजना रूप कर्मबन्ध से एकदम पृथक् है। इस तरह संयोजना को नये बन्ध के रूप मे ग्रहण करना आगम से इष्ट नहीं जान पड़ता।

विसंयोजना एवं संक्रमण में अन्तर--

जिस तरह अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध में भेद है, उसी तरह विसंयोजना और संक्रमण में भी अन्तर है। दोनों को एक नही समझना चाहिए। एक प्रकृति का दूसरी सजाति प्रकृति रूप परिणमित होना संक्रमण है।[110] सक्रमित हुआ द्रव्य पुनः सयोजित नही होता जबकि विसंयोजना में अनन्तानुबन्धी की विसयोजना होने के बाद भी वह अपने अध्वान–बन्ध-उदय काल में पुनः संयोजित हो जाती है।[111] इन्ही अर्थों में विसयोजना और संक्रमण में अन्तर है। यदि विसयोजना को संक्रमण ही मान लेते हैं तो संयोजना के अभाव का प्रसंग आ जाएगा जबकि वह आगमामान्य है और इष्ट भी नहीं है।

इन दोनों के अन्तर को हम एक दृष्टान्त द्वारा समझ लेते हैं। आयुर्वेद शास्त्रों में कई प्रकार की भस्मो की चर्चा है, जिनसे भिन्न-भिन्न रोगों की चिकित्सा का विधान किया गया है। जैसे—

---

११० (अ) तत्थ पयडीए पयडिअंतरेसु संकमो पयडिसकमोत्ति भण्णइ, जहा कोहपयडीए माणादिसु सकमोत्ति। जयध ८ पृ. १४।

(ब) अवत्थादो अवत्थतरसकेती सकमो त्ति। जय ध ६ पृ ३।

१११ जो उपशमसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करके पुनः उपशम सम्यक्त्व के काल में छह आवली शेष रहने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है उसके अनन्तानुबन्धी का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त्त पाया जाता है। जयध. २ पृ. ११४ विशे.।

लोह भस्म, रजत भस्म, स्वर्ण भस्म इत्यादि। आयुर्वेद के अनुसार तथा आप स्वयं अनुभव के आधार पर जानते हैं कि इन भस्मों के तैयार हो जाने के बाद इन्हें पुनः लोह, रजत और स्वर्णरूप नहीं किया जा सकता। लेकिन आपको ध्यान होगा कि उन ग्रन्थों में एक विशेष भस्म का भी उल्लेख किया गया है जो ऐसी नहीं है, वह है पारे की भस्म। पारा जब शुद्ध अवस्था में होता है तो वह सेवन योग्य नही होता। किन्तु वह जैसे ही भस्म का रूप धारण करता है कि सेवनीय हो जाता है। उसके सेवन से पूर्व वैद्य लोग सावधानीपूर्वक परामर्श देते हैं कि इस भस्म के साथ खटाई न खाई जाए। नही तो वह पुनः पारे रूप परिवर्तित होकर जीवनघाती तक बन सकती है। इसकी पुष्टि के लिए जैनाचार्यों ने लिखा–इस जीव ने रसज्ञान के अभाव में कई बार अकाल मृत्यु को प्राप्त किया है।[112] उपर्युक्त कहा गया रस यही पारा है।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि पारे की भस्म पुनः संयोजित हो जाने की वजह से विसयोजना की प्रतीक है और अन्य भस्मे जो पुनः परिवर्तित नहीं होती, अतः संक्रमण की प्रतीक हैं।△

अनन्तानुबन्धी चतुष्क का प्रशस्त उपशम भी नहीं होता–

आत्मा में कर्म की निज शक्ति का किसी कारणवश प्रगट न होना उपशम है। जैसे कीचड़ मिले हुए जल में फिटकरी आदि

---

११२ हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयससगेहि विविहेहिं ॥
इय तिरियमणुसजम्मे सुइर उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्ख तिव्वं पत्तोसि त मित्त ॥ भावपाहुड २६-२७ पृ १४३।

△ इस प्रकरण मे जैसा विसयोजना और सक्रमण मे अन्तर बताया गया है: वैसा ही विसंयोजना एवं क्षपणा मे अन्तर होता है। देखे जयध ५ पृ २०७ से २०८।

डाल देने से सारी कीचड़ पृथक् होकर नीचे बैठ जाती है।[113] उपशम दो प्रकार का होता है—प्रशस्त उपशम और अप्रशस्त उपशम। जो उपशम अपूर्वकरणादि परिणामों के माध्यम से उपशम विधि पूर्वक होता है वह प्रशस्त उपशम है अर्थात् जिससे कर्म, उदय-उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति संक्रमण, स्थिति-काण्डकघात-अनुभागकाण्डकघात के बिना ही मात्र सत्ता में रहते हैं उसे प्रशस्त उपशम कहते है।[114] और जिस उपशम में मात्र अपकर्षण, उत्कर्षण, परप्रकृति सक्रमण व उदय अवस्था को प्राप्त न हो उसे अप्रशस्त उपशम कहते है।[115] इन उपशमों में अनन्तानुबन्धी के प्रशस्त उपशम का अभाव है। इसका तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजना।[116] लेकिन किन्ही ग्रन्थों मे विसयोजना को 'उपशम' शब्द द्वारा भी इंगित किया गया है। वहां उपशम मे विसयोजना ही ग्रहण करना चाहिए।[117]

अप्रशस्त उपशम से विसंयोजना में विशिष्टता यह है कि विसंयोजना करने वाले जीव के सत्ता, उदयावली और उदय, तीनो

---

११३ आत्मनि कर्मण स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादि-द्रव्यसवन्धादम्भसि पकस्य उपशम। स. सि २/९ पृ १०७।

११४. उवसमो णाम किम् ? उदय-उदीरण-ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसकम-ट्ठिदि-अणुभाग-कडयघादेहि विणा अच्छणमुवसमो। ध १ पृ २१२।

११५ अप्पसत्थुवसामणाए जमुवसत पदेसग्ग तमोकड्डिदु पि सक्क, उक्कड्डिदु पि सक्क, पयडीए सकामिदु पि सक्क उदयावलिय पवेसिदु ण उ सक्क। ध १५ पृ २७६।

११६ अनन्तानुबन्धिकषायाणा प्रशस्तोपशमो नास्ति इति तेषामप्रशस्तोपशमे विसंयोजने वा जायते। जी का. २५ पृ ५३।

११७ अनन्तानुबन्धी के अन्य प्रकृतिरूप मे सक्रमण होने को ग्रन्थान्तरो मे विसयोजना कहा है, और यहाँ पर उसे उपशम कहा है। ध १ पृ.२११।

ही अनन्तानुबन्धी से रिक्त होते हैं। इस समय ऐसा जीव चौवीस प्रकृतियों के सत्त्व वाला माना जाता है। लेकिन अप्रशस्त उपशम में मात्र अनन्तानुबन्धी के चतुष्क का उदयाभाव होता है। उस समय सत्ता और उदयावली दोनो में इसका अस्तित्व मौजूद रहता है। इसीलिए प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा विसंयोजना करने वाला जीव अधिक विशुद्धि वाला होने से असंख्यातगुणी निर्जरा करने वाला होता है।[118] साथ ही अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के बिना दर्शनमोहनीय की क्षपणा[119] तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी प्राप्त नही होता।[120]

अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व की जननी—

अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व में क्या सम्बन्ध है, इसकी ओर दृष्टिपात् करें। एक, मिथ्यात्व जीव को सिर्फ सम्यक्त्व होने के लिए बाधक है अर्थात् श्रद्धान नही होने देता।[121] लेकिन

---

११८ (अ) सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण-मोहजिना. क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा। त सू. ६/४५।

(ब) सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय विरदे अणत कम्मसे।
दसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसते॥
खवए य क्षीणमोहे जिणे च णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणा य सेडीओ॥ ध १२ पृ. ७८ एव जी का पृ १२६।

११९ (अ) एत्थ जो वेदगसम्माइट्ठी दसणमोहक्खवण पट्ठवेइ सो पुव्व चेवाणता-णुबधिचउक्क विसजोएइ, अविसजोइदाणताणुबधिचउक्कस्स दसणमोह-क्खवणपट्ठवणाणुववत्तीदो। जयध. १३ पृ १२।

(ब) तदो अणताणुबधी विसजोइय, विस्सतो दसणमोहं खविय। ध ५ पृ. १३५।

१२० वेदयसम्माइट्ठी अणताणुबधी अविसजोएदूण कसाए उवसामेदुं णो उवट्ठादि। जयध १३ पृ १६७।

१२१. अत्तागम-पयत्थेसु पच्चओ रूई सद्धा पासो च दसण णाम। तस्स मोहयं तत्तो विवरीयभावजणण दंसणमोहणीय णाम। ध १३ पृ ३५७।

अनन्तानुबन्धी कषाय इससे एक कदम आगे है। वह संयम को घात करने के साथ सम्यक्त्व को भी चुराती है—घात करती है पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि—

"सम्यग्दर्शनचौरा: प्रथमकषायाश्च चत्वार ॥"[122]

अर्थात् प्रथमकषाय—अनन्तानुबन्धी वह है जो सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न को चुराती है। अनन्तानुबन्धी की द्विमुखता भी बड़ी विचित्र है।[123] हम हमेशा इसके लिए एक उदाहरण दिया करते हैं—

जैसे वर्तमान में भारत देश मे राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के दो अलग-अलग पद हैं फिर भी दोनों का अच्छा गठबन्धन होता है। इसी तरह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का सम्बन्ध हुआ करता है। फिर भी दोनों की सत्ता अलग-अलग है। मिथ्यात्व तो राष्ट्रपति के समान सबसे बड़ा कर्म है। लेकिन अनन्तानुबन्धी प्रधानमंत्री होकर भी कम नही है। पूरा शासन तो अपने ही हाथो में रखती है। पहले प्रधानमंत्री चुनकर आता है। फिर उसी के माध्यम पूर्वक राष्ट्रपति का चुनाव होता है।

किंच, जो व्यक्ति जितना बड़ा होता है वह उतना ही कम कार्य करता है। उसकी मात्र उपस्थिति ही मूल्यवान् होती है। उसे हस्ताक्षर ही अधिकाश करना होते है। लेकिन उसका वेतन सबसे अधिक होता है। इस तरह का स्वरूप है मिथ्यात्व का।

---

१२२ तत्त्वार्थश्रद्धाने निर्युक्ते प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौरा: प्रथमकषायाश्च चत्वार. । पु सि. १२४ पृ ६७।

१२३ अनन्तानुबन्धिना द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। .यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीय तस्य चारित्रा-वरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। ध. १ पृ १६५।

किन्तु अनन्तानुबन्धी सारा कार्य करती है। व्यवस्था करती है और मिथ्यात्व से कम वेतन–स्थिति बन्ध को प्राप्त करती है। यही इसकी उदारता होती है।

एक बात और है कि जैसे प्रधानमंत्री को राष्ट्रपति के आने पर स्वागत को पहले से ही तैयार होना पड़ता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व के आगमन–बन्ध के समय तथा चतुर्थ गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान को आते समय, उसका सारा प्रबंध करने अनन्तानुबन्धी तैयार रहती है। अनन्तानुबन्धी ही मिथ्यात्व को सुरक्षित एवं संवर्धित करने में हर दम प्रयासरत रहती है। ताकि शासन मजबूत बना रहे। इस तरह परस्पर में सम्बन्ध रहता है दोनों का।

अनन्तानुबन्धीजन्य विपरीताभिनिवेश का फल–

विपरीताभिनिवेश की अपेक्षा देखा जाए तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी में कथञ्चित् साम्यता भी है।[124] इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि क्या अनन्तानुबन्धीकषाय मिथ्यात्व नही है ? कारण विपरीताभिनिवेश, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, इन दोनों के द्वारा ही उत्पन्न होता है। कारण, सासादन गुणस्थान में तीन अज्ञान की बात कही गयी हैं–मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभङ्गज्ञान।[125] इससे स्पष्ट है कि जब सासादन गुणस्थान मे

---

१२४ तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वथ नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शन-चारित्राप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेश· किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। ध १ पृ. १६४।

१२५ (अ) णाणाणुवादेण मदिअण्णाणि-सुदअण्णाणि-विभगणाणीसु मिच्छादिट्ठी-सासणसम्माइट्ठी ओघ। ध ५ पृ २२४।

(ब) मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसञ्ज्ञके द्वे। मूला १२०२ पृ. ३२५।

मिथ्यादर्शन का उदय नही है तो वहां ज्ञान को मिथ्याज्ञान की संज्ञा दिलाने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय ही है।[126] इसीलिए वहां पर अज्ञान–मिथ्याज्ञान कहा गया है।

सासादन–आसादन से युक्त। यानि सम्यक्त्व की विराधना को आसादन और उससे सहित परिणाम सासादन है। इसका यह अर्थ हुआ। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया, किन्तु मिथ्यात्व रूप परिणामों को अभी प्राप्त नहीं किया। अभी मिथ्यात्व के सम्मुख अवश्य है।[127] मिथ्यात्व की समानता का स्थान अनन्तानुबन्धी को तब भी दिया गया जब कि आस्रवों के नोकर्मों की प्ररूपणा की जा रही थी। वहां पर कहा गया कि जो-जो मिथ्यात्वप्रकृति के आस्रव के लिए नोकर्म है वे ही अनन्तानुबन्धी कषाय के लिए भी जानने चाहिए। जैसे–षड् अनायतनादि।[128] अर्थात् छह अनायतनो के द्वारा मिथ्यात्व भी आता है और अनन्तानुबन्धी भी। इसके साथ ही एक जगह तो अनन्तानुबन्धी को मिथ्यात्व के बराबर ही मोह कहकर समानता दी और विपरीताभिनिवेशजनक बतलाया है। कारण, उन्होंने

---

१२६ (अ) तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति। रा वा. ६/१ पृ ५८६।

(ब) सासादनसम्यग्दृष्टेः मिथ्यादर्शनानुदयेऽपि अनन्तानुन्ध्यन्यतमोदयान् यत् ज्ञानत्रय तदज्ञानत्रयमेव। त वृ ६/१ पृ २८१।

१२७ (अ) सासादनो विनाशित सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुख. सासादन इति भण्यते। ध १ पृ १६३।

(ब) सम्मत्तरयण-पव्वय सिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासिय-सम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ ध १ पृ १६६ एव
जी. का २० पृ ५१।

१२८ अणणोकम्म मिच्छत्तायदणादी हु होदि सेसाण।
सगसगजोग्ग सत्थं सहायपहुडी हवे णियमा॥ क का. ७५ पृ ५६।

कर्मोदय की समानता को स्वीकार किया है।[129] इस तरह से देखा जाए तो अनन्तानुबन्धी,सम्यक्त्व का घात करने में मिथ्यात्व प्रकृति-वत् कार्य करती है।

स्व-परोदय की परिभाषा एवं बन्ध के समय उनकी भूमिका—

स्वोदय और परोदय बन्धी प्रकृतियों के प्रसंग में यहां खास तौर से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दो प्रकृतियों के ही बारे में विचार करेंगे। यहाँ कुछ लोगों का कहना है कि महाराज! मिथ्यात्व प्रकृति तो स्वोदय बन्धी प्रकृति है इसलिए मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व के द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध मान लिया जाए, तो इसमें क्या बाधा है? साथ ही अनन्तानुबन्धी को स्वोदयी तथा परोदयी दोनों रूप कहा गया है तो उसका भी बन्ध मिथ्यात्व के उदय में तथा मिथ्यात्व के द्वारा ही स्वीकार कर लेना चाहिए?

भैय्या! इस तरह शंकाओं को रखने से पहले आगम का अच्छी तरह से स्वाध्याय कर लेना चाहिए, जिससे उसमें दिये गये समाधानों से अपनी शंकाओं के निवारण कर लें या फिर इस तरह की अज्ञतापूर्ण शंकाओं को पैदा होने का अवसर ही न मिलें। ऐसी शकाओं से ज्ञात होता है कि अभी तक स्वोदय तथा परोदयबन्ध की परिभाषा क्या है यही ज्ञात नहीं है। अतः उसे ही सबसे पहले समझ लें।

जिस प्रकृति का बन्ध, अपने उदयकाल से ही सम्भव होता है उसे स्वोदयबन्धी प्रकृति कहते है। तथा जिन प्रकृतियों का बन्ध अपना उदय न होते हुए भी—अन्यप्रकृति के उदय में हो, वे परोदय

१२९. पंचविहमिच्छत्त सम्मामिच्छत्त सासणसम्मत्त च मोहो, सो विवागपच्चइयो, मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-अणताणुबंधीणं दव्वकम्मोदयजणिदत्तादो। ध १४ पृ. ११।

बन्धी प्रकृतियाँ कहलाती है। उभयबन्धी प्रकृतियाँ अपने तथा दूसरी अन्य प्रकृतियों के उदय मे भी बन्धदशा को प्राप्त होने वाली होती हैं।

यहाँ मिथ्यात्व को स्वोदयबन्धी मानने का अर्थ है कि मिथ्यात्व के उदय में ही मिथ्यात्व का बन्ध होगा।[130] ना कि वह मिथ्यात्व के द्वारा होगा। मिथ्यात्व के उदय में जहाँ प्रथमगुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक कहा है वहाँ पर भी आशय सिर्फ इतना ही है कि मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के उदय में ही बंधेगी। इसके साथ इतना अवश्य ही ध्यान रखने योग्य है कि मिथ्यात्व प्रकृति के उदयकाल मे यदि देव आयु का बन्ध हो रहा है तो मिथ्यात्व के अलावा अन्य पन्द्रह प्रकृतियों के बन्ध का अभाव हो जायेगा। इससे यह नियम भी नही बनता कि मिथ्यात्व के उदय से नियमत· इन प्रकृतियो का बन्ध हो ही।

धवलादि ग्रन्थों मे आहारकद्विक अर्थात् आहारक शरीर एव आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग इन दो प्रकृतियों के बन्ध के लिए संयम को नियामक बताया गया है।[131] इसी तरह तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के लिए सम्यक्त्व प्रत्यय माना है।[132] पर यहाँ ध्यान

---

१३० मिच्छत्तस्स सोदएणेव बधो। ध ८ पृ ४४।

१३१. (अ) आहारदुग विसिट्ठरागसमण्णिदसजमपच्चइय, तेण विणा तब्बधाणुवलभादो। ध ८ पृ ७३।

(ब) सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्ध ।
योऽप्युपदिष्ट· समये न नयविदा सोऽपि दोषाय ॥ पु. सि. २१७ पृ १८०।

१३२ सम्मत्तगुणणिमित्त तित्थयर संजमेण आहार।
बज्झति सेसियाओ मिच्छत्ताईहिं हेऊहिं ॥ प्रा प. स ४८९ पृ. २७८।

रखना कि संयम और सम्यक्त्व बन्ध का कारण नहीं है।[133] यहाँ पर अभिप्राय इतना ही है कि आहारद्विक का बन्ध संयमी[134] तथा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वी के होगा।[135] इसी तरह मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्वप्रकृति का बन्धक होगा।[136]

दूसरी, अनन्तानुबन्धी स्वोदय-परोदय बन्धी प्रकृति है।[137] इसके साथ ही अप्रत्याख्यानावरण,[138] प्रत्याख्यानावरण,[139]

---

१३३ (अ) जदि चदुसजलण-णवणोकसाय-जोगा बावीस चेव आहारदुगस्स पच्चया तो सव्वेसु अप्पमत्तापुव्वकरणेसु आहारदुगबधेण होदव्व। ण चेवं, तहाणुवलभादो। ध ८ पृ ७२।

(ब) ण सम्मत्तं तब्बधकारण सम्मादिट्ठिस्स वि तित्थयरस्स बधाणुवलभादो। ध ८ पृ. पृ ७७।

(स) सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकाराहारबन्धकौ भवत। योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्। पु सि २१८ पृ १८८।

१३४ आहारसरीर-आहारसरीरअंगोवगणामाण को बधो को अबधो? अप्पमत्तसजदा अपुव्वकरणपइट्ठउवसमा खवा बधा। अपुव्वकरणद्धाए सखेज्जे भागे गतूण बधो वोच्छिज्जदि। एदे बधा अवसेसा अबधा। ध ८ पृ. ७१।

१३५ तित्थयरणामस्स को बधो को अबधो? असजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अपुव्वकरणपइट्ठउवसमा खया बधा। अपुव्वकरणद्धाए सखेज्जे भागे गतूण बंधो वोच्छिज्जदि। एदे बधा अवसेसा अबधा। ध ८ पृ ७३।

१३६. मिच्छत्तस्स बधोदया सम वोच्छिज्जति, मिच्छाइट्ठिचरमसमये बंधोदय-वोच्छेददंसणादो। ध ८ पृ ४३।

१३७ थीणगिद्धित्तियमित्थिवेद तिरिक्खाउअ तिरिक्खगइ चदुसंठाणाणि चदुसंघडणाणि तिरिक्खगदि पाओग्गाणुपुव्व उज्जोव अप्पसत्थविहाय-गदिमणंताणुबधिचउक्क दुभग-दुस्सर-अणादेज्ज णीचागोदाणि च मिच्छाइट्ठी-सासणसम्माइट्ठिणो सोदएण वि परोदएण वि बधति, विरोहा-भावादो। ध ८ पृ ३२।

१३८. अपक्खाणावरणचउक्कादीणं सव्वेसिं सोदय-परोदएहि बधो। ध ८पृ ४७।

१३९ कोधादीण बधकाले तस्सेव उदए वि होदव्वमिदि णियमाभावादो। ध ८ पृ. ५०।

श्रौर संज्वलन[140] भी स्व-परोदय बन्धी ही है। श्रगर परोदयबन्धी कहकर कोई मिथ्यात्व के द्वारा श्रनन्तानुबन्धी का बन्ध मानने लगे तो उसकी नासमझी ही होगी, कारण ऐसा मानने पर श्रनन्तानुबन्धी सम्बन्धी २५ प्रकृतियों का भी बन्ध मिथ्यात्व के द्वारा मानना होगा। हम पूछना चाहेंगे कि यदि परोदयबन्धी का यही तात्पर्य लिया जाए तो क्या कभी ऐसी भी स्थिति होगी कि सभी कषायों का श्रनुदय हो श्रौर मिथ्यात्व का या श्रन्य तत्सम्बन्धी प्रकृति का उदय, कषायों के बन्ध कराने में निमित्त बनें। लेकिन बन्धुश्रो! ऐसी स्थिति होती नहीं है कि मिथ्यात्व का उदय रहे श्रौर निष्कषाय श्रवस्था प्राप्त हो जाए। मिथ्यात्व के उदय के साथ श्रनन्तानुबन्धी का उदय तो हमेशा रहता ही है। उसके साथ श्रन्य कषायें भी विद्यमान रहती है।

यहाँ श्रनन्तानुबन्धी के परोदयबन्धी होने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि श्रनन्तानुबन्धी क्रोध के उदय मे श्रनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया श्रौर लोभ, इन चारों का ही बन्ध होता है।[141] यहाँ श्रनन्तानुबन्धी क्रोध का तो बन्ध स्वोदयी बन्ध हुश्रा तथा श्रन्य तीन का परोदयी बन्ध हुश्रा। इसलिए वह स्व-परोदयबन्धी प्रकृति है। श्रनन्तानुबन्धी क्रोध के उदय के साथ शेष श्रन्य श्रप्रत्याख्यानावरणादि बारह प्रकृतियों के बन्ध होने का निमित्त

---

१४०. (श्र) पुरिसवेद-कोधसजलणाण एदासि दोण्णं पयडीण सोदय-परोदएहि बंधो, सोदएण विणा वि बधोवलंभादो। ध. ८ पृ ५३।
(ब) माण-मायसजलणाण एदासि सोदय-परोदएहि बधो। ध ८पृ ५७।
(स) लोभसंजलणाण सोदय-परोदएहि बंधो। ८ पृ. ५६।
(द) तैजसद्विक । शेषा पचदर्शनावरणद्विवेदनीयपंचविंशति-मोहनीयतिर्यग्मनुष्यायुस्तिर्यग्मनुष्यगति ... द्वयशीतिप्रकृतय. उभयोदयबंधा भवंति। क. का ४०३ पृ. ६५०।

१४१. देखें न. १३६।

होना परोदयबन्धी का तात्पर्य नहीं । इसलिए अनन्तानुबन्धी का बन्ध उसके उदय के साथ ही हो सकेगा ।

नयों की विविक्षा में सामान्य व विशेष प्रत्यय—

इस प्रकरण के अन्तर्गत बंधस्वामित्वविचय बन्धप्रत्यय-विधान की चर्चा की जाएगी । पहले में अर्थात् बंधस्वामित्वविचय के अन्तर्गत बन्ध का स्वामी कौन या बन्ध करने वाला जीव कौन इस बात की प्ररूपणा की गई है ।[142] यहाँ विचय का अर्थ विचारणा या मीमांसा है ।[143] समझाने के लिए जैसे—एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियाँ हैं । उनमें बन्ध योग्य एक सौ बीस हैं ।[144] उन एक सौ बीस में से भी प्रथम गुणस्थान में स्थित जीवों के अधिक से अधिक एक सौ सत्तरह का ही बन्ध हो सकता है ।[145] कारण, प्रथमगुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति एवं आहारकद्विक, ऐसी तीन प्रकृतियों के बन्ध का निषेध किया गया है ।[146] इस प्रकार से बन्ध की चर्चा सभी गुणस्थानों में की गई है ।

उपर्युक्त कथन नाना जीवों की अपेक्षा से किया गया है। इसलिए सामान्य कथन है । हालाकि एक समय में एक जीव सभी प्रकृतियो का बन्ध नही कर सकता । पर सामान्य विवेचन करेंगे तो

---

१४२ एदस्स बधस्स सामित्तं बधमामित्तं, तस्स विचओ । ध ८ पृ ३ ।

१४३ विचओ, विचारणा, मीमासा परिक्खा इदि एयट्ठं । ध. ८ पृ. ३ ।

१४४ भेदे छादालसय इदरे बंधे हवंति बीससयं ।
भेदे सव्वे उदये बावीससयं अभेदम्मि ।। क का. ३७ पृ. ३५ ।

१४५. अभेदविवक्षया बन्धो विशत्यग्रशतम् । तत्र मिथ्यादृष्टौ सप्तदशोत्तर शतमेव । क का. १०३ पृ. ७६ ।

१४६. 'सम्मेव तित्थबंधो आहारदुग पमादरहिदेसु' इति तत्त्रयस्य बंधाभावात् । क का. १०३ पृ. ७६ ।

ऐसा ही कहा जाएगा कि प्रथम गुणस्थान में बधने वाली एक सौ सत्तरह प्रकृतियाँ हैं। अब यदि कोई कहे कि एक जीव की अपेक्षा एक सौ सत्तरह प्रकृतियों का बन्ध क्या प्रथम गुणस्थान में सम्भव है ? हा ! नैगमनय की अपेक्षा से कहें तो एक जीव भिन्न-भिन्न काल में सभी प्रकृतियाँ बन्ध सकता है। यह कथन नैगमनय के दोनों भेद-भावि-नैगमनय तथा भूतनैगमनय की अपेक्षा से किया गया है। लेकिन यदि वर्तमान की अपेक्षा या एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि की अपेक्षा या देव-नारकी की अपेक्षा या संज्ञी-असंज्ञी की अपेक्षा विचार करने पर प्रथम गुणस्थान मे ही बंधने वाली प्रकृतियों के कई भेद-उपभेद हो जायेंगे। यह कथन विशेष कथन है।

इस तरह बन्धस्वामित्वविचय की प्ररूपणा सामान्य-विशेष दोनों विवक्षाओ से की जाती है। इसमे यह भी विचार किया जाता है कि किन-किन प्रकृतियो का कौन-बन्धक है ? कौन अबन्धक है ? किस गुणस्थान से लेकर किस गुणस्थान तक–अध्वान की अपेक्षा बन्ध होता है ?[147]

जैसे–यशःकीर्ति का बन्ध कौन करता है ? मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, दोनों ही उसके बन्धक है। यहाँ विशेष कथन में यह जाना जाता है कि क्या अकेले प्रथम व चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ही बन्धक है या और भी ? तब ज्ञात होगा कि यशःकीर्ति का बन्ध प्रथम से दसवें गुणस्थान तक होता है । अतः उसके स्वामी प्रथम से लेकर दसवें गुणस्थान–सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसो गुणस्थान

---

१४७. को बंधो को अबधो त्ति णिद्देसादो एदं पुच्छासुतमासंक्यिसुत्तं वा। किं मिच्छाइट्ठी बंधओ किं सासणसम्माइट्ठी किं सम्मामिच्छाइट्ठी किं असंजदसम्माइट्ठी एव गंतूण किं अजोगी किं सिद्धो बंधओ त्ति तेणेव पुच्छा कायव्वा। ध. ८ पृ. ७।

वाले होंगे ।[148] इस प्रकार से सामान्य और विशेष की प्ररूपणा प्रत्येक प्रकृतियों के विषय में की जाती है ।

दूसरे प्रकरण–बन्धप्रत्ययविधान में सामान्य और विशेष की विवक्षापूर्वक बन्ध प्रत्ययों की प्ररुपणा की जाती है । यहाँ प्रत्यय का अर्थ कारण, साधन या निमित्त जाना चाहिए । ये सभी समानार्थक शब्द है ।[149] किन कारणों से अर्थात् किन सामान्य और विशेष प्रत्ययों से जीव किस कर्म को बाँधता है, यह सारी जानकारी बन्धप्रत्यय विधान की जाती है ।

सामान्य प्रत्यय वे कहे जाते हैं जो कि बन्ध के समय उदय-अस्तित्व में आपेक्षित होते है । इन सामान्य प्रत्ययों के अन्दर मिथ्यात्वादि कई प्रत्यय रखे गये है । उसका वर्णन नैगम, संग्रह और व्यवहारनय से किया जाता है ।

जैसे–मिथ्यात्व के उदय में अयशःकीर्ति का बन्ध होता है । और लेकिन यह बन्ध मात्र मिथ्यात्व के उदय मे नहीं होता । कारण, मिथ्यात्व का उदय तो मात्र प्रथम गुणस्थान में है जबकि अयशःकीर्ति का बन्ध तो छठवें गुणस्थान तक रहता है ।[150] अतः

---

१४८ पंचण्णं णाणावरणीयाण चदुण्ह दसणावरणीयाण-जसकित्ति-उच्चागोद-पचण्हमतराइयाण को बंधो को अबधो ?
मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सुहुमसापराइयसुद्धिसजदेसु उवसमा खवा बधा । सुहुमसापराइयसजदद्धाए चरिमसमय गतूण बंधो वोच्छिज्जदि । एदे बधा अवसेसा अबधा । ध ८ पृ. १३ ।

१४९ (अ) प्रत्ययः कारण निमित्तमित्यनर्थान्तरम् । स सि. १/२१ पृ. ८९ ।
(ब) पच्चओ कारणं णिमित्तमिच्चणत्थंतरं । ध. १२ पृ. २७६ ।

१५० असादावेदणीय-अरदि-सोग-अथिर-असुह-अजसकित्तिणामाण को बधो को अबधो ?
मिच्छादिट्ठिप्पहुडि जाव पमत्तसंजदा बंधा । एदे बधा, अवसेसा अबंधा । ध. ८ पृ. ४० ।

मिथ्यात्व का उदय अयशकीर्ति के बन्ध के लिए नियामक कारण नहीं हुआ अपितु सामान्य कारण ही हुआ। अयशःकीर्ति और अन्य पाँच–अस्थिर, अशुभ, असाता, अरति और शोक, इन छह प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति छठवें गुणस्थान में होने से इनके लिए नियामक प्रत्यय के रूप में प्रमाद कहा गया है।[151] अर्थात् प्रमाद के साथ ही इनका बन्ध होता है। अप्रमत्तजीव को इनका बन्ध नही होता। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य होता है कि इन छह प्रकृतियों का बन्ध प्रमाद होने से होगा ही, ऐसा कोई नियम नहीं। क्योंकि प्रमाद के साथ-सद्भाव में इन प्रकृतियों के बन्ध का अभाव तथा इनकी प्रतिपक्षी यशः कीर्ति, स्थिर, शुभ, साता, रति और हास्य का बन्ध भी देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह सभी सामान्य प्रत्यय ही है।

इस विषय को ऐसे भी समझा जा सकता है।'–ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध करने वाला प्राणातिपात प्रत्यय भी कहा गया है।[152] और वहाँ प्राणातिपात का अर्थ सीधा प्राणों का व्यपरोपण ही लिया गया है।[153] इसी तरह आगे मृषावाद प्रत्यय,[154] अदत्तादान प्रत्यय,[155] मैथुन[156] और परिग्रहप्रत्ययों[157] को भी

---

१५१ प्रमत्तसंयतगुणस्थानचरमसमये अस्थिर अशुभ असातवेदनीय अयशस्कीर्ति शोकश्चेति षट्व्युच्छियन्ते प्रमादहेतुकबधत्वात्।
क. का ६८ पृ ७१।

१५२. तम्हि पाणादिवादपच्चए णाणावरणीयवेयणा होदि। जहा णाणावरणीयस्स पच्चयपरूवणा कदा तहा सेससत्तण्ण कम्माणं पच्चयपरूवणा कायव्वा विसेसाभावादो। ध १२ पृ २७६।

१५३. पाणादिवादो णाम पाणेहितो पाणीणं विजोगो। ध १२ पृ. २७५।

१५४. मुसावादपच्चए। ध. १२ पृ. २७६।

१५५. अदत्तादाणपच्चए। ध १२ पृ २८१।

१५६. मेहुणपच्चए। ध १२ पृ. २८२।

१५७. परिग्गहपच्चए। ध. १२ पृ. २८२।

ग्रहण किया गया है। इसी सन्दर्भ में रात्रिभोजन भी एक प्रत्यय के रूप में रखा गया है।[158] अब अगर देखा जाए तो जो महाव्रती-मुनि महाराज है, उनका तो इन सभी क्रियाओं का मन, वचन, काय से–अतरंग-बहिरङ्ग रूप से सर्वथा परित्याग है। फिर उनको तो आठो कर्मों का बन्ध नही होगा। इसीलिए प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन आदि इन प्रत्ययों से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध नही होता। क्योंकि इनके बिना भी अप्रमतसयतादि गुणस्थानवर्ती जीवो के भी इनका बन्ध होता है।[159] तब यहाँ समाधान दिया गया है कि वह प्रत्ययव्यवस्था तो नैगम, सग्रह और व्यवहार नयो की अपेक्षा की गयी है।[160] अतः ये सभी सामान्यप्रत्यय माने जाते है। उन्होंने कहा–ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रत्ययो का सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिए इन सामान्य प्रत्यय को विवक्षित किया गया है।[161] सामान्यप्रत्ययों में और भी कई नाम है जैसे–मधु-मास-पचुदम्बरफल-निवसन-मद्य-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-दोष-मोह-प्रेम-उवधि-निकृति, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति आदि।[162] इन सभी को द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा बन्ध का हेतु जानना चाहिए।

---

१५८. रादिभोयणपच्चए। ध १२ पृ २८२।

१५९ ण पाणादिवाद-मुसावादादत्तादाणमेहुण-परिग्गह-रादिभोयणपच्चए-णाणावरणीयं बज्झदि, तेण विणा वि अप्पमत्तसंजदादिसु बधुवलंभादो। ण कोहमाण. लोभेहि बज्झइ, कम्मोदइल्लाण तेसिमुदयवि रहिदद्धाए तव्बधुवलभादो। ध. १२ पृ २८०।

१६० णेगम-ववहार-संगहाणं णाणावरणीयवेयणा पाणादिवादपच्चए। ध १२ पृ २७५।

१६१ एव विहववहारो किमट्ठं कीरदे ? सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहणट्ठ च। ध १२ पृ २८०।

१६२ (अ) जेणेद मुत्तं देसामासिय तेणेत्थ महु-मास-पचुंवर-णिवसण-हुल्लभक्खण-सुरापाण-अवेलासणादीणं पि णाणावरणपच्चयत्तं परूवेदव्वं। ध १२ पृ २८३।

यतः इन प्रत्ययों के अभाव में भी बन्ध होता रहता है इसलिए इन्हें सामान्यप्रत्यय के रूप में रखा गया है।

विशेष प्रत्यय की चर्चा करते हुए ऋजुसूत्रनय के आश्रित इनसे अलग ही प्रत्यय कहे गये है, कारण कि वे साक्षात् बन्ध की नियामकता से सम्बन्ध रखते हैं। ऋजुसूत्रनय की विवक्षा मे दो ही प्रत्यय कहे गये हैं–कषाय और योग।[163] योग को प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तथा कषाय को स्थिति और अनुभाग बन्ध का नियामक प्रत्यय कहा गया है।[164]

यहाँ सामान्य और विशेष प्रत्ययों से इतना ही ज्ञातव्य है कि सामान्यप्रत्यय के होने पर बन्धरूप कार्य हो ही, ऐसा नहीं। किन्तु विशेषप्रत्यय के सद्भाव मे कार्य की निष्पत्ति अवश्यम्भावी होती है। जैसे–घडा नही बनाते हुए कुम्भकार को भी कुम्भकार की सज्ञा से व्यवहित किया जाता है। उसी प्रकार प्राणातिपातादि प्रत्ययों के द्वारा लोकसंव्यवहार की प्रवृत्ति प्रचलित होती है इसलिए ही इनका कथन किया गया है।[165]

(ब) एवं कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्मपच्चए। णिदाणपच्चए। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छा-णाण-मिच्छादसण-पओअपच्चए। ध १२ पृ २८३–२८५।

१६३ (अ) उज्जुसुदस्स णाणावरणीयवेयणा जोगपच्चए पयडिपदेसग्गं। कसाय-पच्चए ट्ठिदि-अणुभागवेयणा। ध १२ पृ २८८ व २९०।

(ब) तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोगकसाएदि चेव होदि त्ति सिद्ध। ध १२ पृ. २८०।

१६४. जोगा पयडि-पदेसे-ट्ठिदि अणुभागे कसायदो कुणदि। ध. १२ पृ. २८९।

१६५. जदि एवं तो दव्वट्ठियणएसु पुव्विलेसु तीसु वि पाणादिवादादीणं पच्चयत्तं कत्तो जुज्जदे? ण तेसु संतेसु णाणावरणीयबंधुवलभादो। नावश्यं कारणाणि कार्यवन्ति भवन्ति, कुम्भमकुर्वत्यपि कुम्भकारे कुम्भकार व्यवहारोपलम्भात्। न च पर्यायभेदेन वस्तुनो भेद· तद्व्यतिरिक्त-पर्यायाभावात् सकललोकव्यवहारोच्छेद प्रसंगाच्च.। न्यायश्चर्च्यते लोकव्यवहारप्रसिद्धयर्थम्। न तद्बहिर्भूतो न्याय, तस्य न्यायाभासत्वात् ततस्तत्र तेषा कारणत्वं युज्यते इति। ध १२ पृ २८९।

इस प्रकार कार्य की निष्पत्ति और लोकव्यवहार दोनों के लिए यथायोग्य प्रत्ययों की विवक्षा समझकर आगम के सही-सही वाच्यार्थ तक गति करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

बन्धव्यवस्था में दर्शनमोहनीय की सामान्यता व उसका स्वरूप—

अब दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों पर विचार करें। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वपरिणामों के प्रभाव से अनादिकालीन मिथ्यात्व को तीन भागों मे विभाजित कर देता है—[166] सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। जैसे कोदों (धान्य विशेष) को दलने पर वह तीन खण्डों में विभाजित हो जाता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय के भी तीन भाग बताये गये हैं।[167] इन तीनों भागों में से तो सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता अर्थात् ये दो ही बन्ध के अयोग्य—अबध्यनीय हैं।[168] शेष एकमात्र मिथ्यात्वप्रकृति ही उनमें बन्ध के योग्य होती है।[169]

सम्यक्त्वप्रकृति को देशघाती और सम्यग्मिथ्यात्व व मिथ्यात्व को सर्वघाती प्रकृतियों में परिगणित किया गया है।[170] आत्मा के गुणों का अंश रूप से—एकदेश घात करने के कारण सम्यक्प्रकृति की

१६६ (अ) तम्हि चेव उवसतदमणमोहणीयपढमसमए तिण्णि कम्मसा उप्पादिदा। के ते ? मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तसण्णिदा। जयध १२ पृ. २८१।

१६७. जतेण कोद्दव वा पढमुवसमसम्मभावजतेण।
मिच्छ दव्वं तु तिहा असखगुणहीणदव्वकमा॥ क. का २६ पृ १४।

१६८. वण्ण-रस-गध-फासा-चउ चउ इगि सत सम्ममिच्छत्त।
होति अबधा बंधण पण-पण सघाय सम्मत्त॥ प्रा प स. ६ पृ ४८।

१६९ ज त दसणमोहणीय कम्म त बधादो एयविहं। ध. ६ पृ ३८।

१७० (अ) णाणावरणचउक्क तिदसण सम्मग च संजलण।
णवणोकसायविग्घ छव्वीसा देसघादीओ॥ क का ४० पृ. ३७।

(ब) केवलणाणावरण दसणछक्कं कसायबारसय।
मिच्छ च सव्वघादी सम्मामिच्छ अबधम्मि॥ क का. ३९ पृ ३६।

देशघाती संज्ञा है।[171] अर्थात् इस प्रकृति के द्वारा सम्यग्दर्शन नष्ट तो नहीं होता, किन्तु उसमे चल, मल और अगाढ़ दोष अवश्य लगते है।[172] मिथ्यात्वप्रकृति का स्वभाव सम्यग्दर्शन को घात करने वाला होने से उसे सर्वघाती की सज्ञा प्राप्त है।[173] और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति को तो ग्रन्थकारो ने जात्यन्तर रूप सर्वघाती प्रकृति माना है।[174] अर्थात् जिसके उदय से ना तो सम्यक्त्वपरिणाम ही होता है और न ही मिथ्यात्व रूप परिणाम ही। इसके उदय में तो मिश्ररूप परिणाम पाया जाता है।[175] यही इस प्रकृति की जात्यन्तरता कही जाती है।

इस तरह तीनो ही प्रकृतियां अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप जीव मे भाव पैदा करती है। इसीलिए इन्हे भावात्मक कहा जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व के उदय में होने वाले तृतीय गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति की बन्धव्युच्छिति नही होती।[176] यहाँ किसी भी प्रकृति के बन्ध में सम्यग्मिथ्यात्व का उदय थोड़ा भी नियामक नही होता।

---

१७१ विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिका शक्यो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते। द्र स ३४ पृ ७६।

१७२ (अ) दमणमोहुदयादो उप्पज्जइ ज पयत्थ-मद्दहण।
चलमलणमगाढ त वेदगमम्मत्तमिह मुणसु ॥ ध १ पृ ३९०।

(ब) सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदग हवे सम्मं।
चलमलणमगाढ त णिच्च कम्मक्खवणहेदू ॥ क का २५ पृ ५४।

१७३ सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिका कर्मशक्तय सर्वघातिस्पर्धकानि भण्यन्ते। द्र स ३४ पृ ७९।

१७४ मम्मामिच्छत्तदव्वकम्म पि मव्वघादी चेव होदु जच्चतरस्स सम्मामिच्छत्तस्स मम्मत्ताभावादो। ध ५ पृ १९८।

१७५ ममीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ मम्यग्मिथ्यादृष्टिः। ध १ पृ १६६।

१७६ मिश्रे शून्य व्युच्छित्यभाव इत्यर्थ। क का. ९४ पृ ६६।

वहाँ ऐसा विचार नही करना चाहिए कि, सम्यक्प्रकृति चूंकि देशघाती है, इसलिए उससे बन्ध नहीं होता। क्योंकि संज्वलन को भी देशघाती ही कहा गया है।[177] फिर भी वह बन्ध कराने में पूर्णतः सक्षम है। और इतना ही नही, वह अपनी सर्वजघन्य अवस्था मे भी, अर्थात् सूक्ष्मलोभ के द्वारा दसवे गुणस्थान में भी सोलह प्रकृतियों का बन्ध हुआ करता है।[178] अब भले ही यह अनन्तगुणी हीन शक्ति का धारक हो गया, लेकिन जब तक जीवित है, बन्ध ही करायेगा, चाहे वह अपना ना भी करा सके पर अन्य सोलह प्रकृतियाँ तो इसके द्वारा बंधती रहेगी।

इसी तरह सम्यग्मिथ्यात्व के द्वारा भी किसी प्रकृति का बन्ध नही होता। इससे स्पष्ट है कि जिसका स्वभाव बन्ध कराने का नहीं वह कभी बन्ध नहीं करायेगा तथा जिसका स्वभाव बन्ध कराने का है वह प्रत्येक अवस्था में बन्ध कराने के लिए तैयार रहता है।

इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय से अन्वय-व्यतिरेक रखने वाली मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतियों को भी मिथ्यात्व नही बांधता। वहाँ मात्र उसका उदय ही निमित्त होता है। इस तरह यह स्पष्ट रूप से समझ सकते है कि दर्शनमोहनीय का सारा का सारा परिवार ही बन्धव्यवस्था में अपना कोई भी हाथ नही रखता।

क्या सभी औदयिकभाव बन्ध मे निमित्त होते है ?

यहाँ पर कोई प्रश्न कर सकता है कि महाराज !

---

१७७ देखें नं० १७०।

१७८ पचाना ज्ञानावरणाना चतुर्णां दर्शनावरणाना यशस्कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणा च मन्दकषायास्रवाणा सूक्ष्मसाम्पराये बन्धः। रा वा ६/२ पृ ५६१।

सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति के उदय में तो क्रमशः तृतीय और चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक क्षायोपशमिकभाव होने के कारण वे बन्ध के लिए निमित्तभूत नहीं है। लेकिन मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से तो औदयिकभाव होता है अत उससे तो बन्ध मानना ही पड़ेगा ?

यहाँ पर सर्वप्रथम विचारणीय है कि क्या क्षायोपशमिकभाव सर्वथा बन्ध नही कराने वाला होता है और औदयिकभाव सर्वथा बन्ध का ही हेतु होता है ? इसके समाधान के लिए सीधा-साधा उल्लेख तो कही भी नही है। फिर भी तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान में क्षयोपशमिकभाव होने से बन्ध नही रुकता है। बल्कि वहाँ की स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि वहाँ अनन्तानुबन्धीकषाय का अनुदय होने से उस सम्बन्धी प्रकृतियों का बन्ध नही होता। दूसरा, औदयिकभाव बन्ध का कारण है,[179] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि सभी औदियकभाव बन्ध के लिए कारण नही है,[180] कारण जो मिथ्यात्वादि औदयिक भाव है' इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि इन भावों के उदय में बन्ध होता है। बन्ध के लिए इनका (मिथ्यात्वादि भावो का) होना आपेक्षित भले ही है लेकिन इनमे श्लेष—चिकनाहट के अभाव मे प्रकृति-प्रदेश या स्थितिअनुभाग रूप किसी भी प्रकार का बन्ध नही होता। किसी की उपस्थिति में बन्ध होना और किसी के द्वारा बन्ध होना, इन दोनों में अन्तर स्पष्ट है।

---

१७९ ओदइया बधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होदि ॥ ध ७ पृ ९।

१८० ओदइया बधयरा त्ति वुत्ते ण सव्वेसिमोदइयाण भावाण गहण, गदि-जादिआदीण पि ओदइयाभावाण बधकारणत्तप्पसगा। ध ७ पृ १०।

औदयिकभाव बन्ध का कारण होता है, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं। पारिणामिक बन्ध और मोक्ष, दोनों के कारणपने से रहित है—ऐसा आचार्यों ने 'ओदइया बंधयरा' ऐसी एक कारिका मे कहा है।[181] जहाँ कही भी प्रत्ययों या भावो का विवेचन चलता है वहां इस गाथा का अवश्य ही उद्धरण दिया जाता है। लेकिन धवला में वीरसेन स्वामी ने इस गाथा की विस्तृत व्याख्या करते हुए स्वय प्रश्न उठाया है कि क्या सभी औदयिकभाव बन्ध के कारण है ? इसके समाधान में उन्होंने कहा है—नहीं ! ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर गति, जाति आदि के भी उदय से होने वाले औदयिकभावों को भी बन्ध का कारण मानने का प्रसंग आ जाएगा।[182] जैसे—गतिनामकर्म औदयिकभाव है और यदि वह बन्ध का कारण भी है तो मनुष्यगतिकर्म जिसका कि उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक है[183] तब गतिनामकर्म को सभी गुणस्थानो मे बन्ध कराना चाहिए ? लेकिन ऐसा होता नही है। कारण, चौदहवें गुणस्थान मे तो आस्रव और बन्ध दोनों ही नही होते[184] फिर वहाँ गतिनामकर्म का उदय क्या करेगा ?

---

१८१ देखे न० १७९।

१८२ (अ) देखे न० १८०। एव (ब) देवगदी उदएण वि काओ वि पयडीओ बज्झमाणियाओ दीसति तासि देवगदि उदओ किण्ण कारण होदि त्ति वुत्ते ण होदि, देवगदिउदयाभावेण तासि णियमेण बधाभावाणुवलभादो। ध ७ पृ १०।

१८३ अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपचेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तक सुभगादेययशस्कीर्त्युच्चैर्गोत्रसज्ञकानामेकादशाना प्रकृतीनामुदय अयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम्। रा वा ९/३६ पृ ६३१।

१८४ मिच्छत्तासयम-कसाय-जोगाण बंधकारणाण सव्वेसिमजोगिम्हि अभावा अजोगिणो अबधया। ध ७ पृ ८।

इसी तरह अज्ञान भी औदयिक भावों के अन्तर्गत गिना जाता है। वह प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक पाया भी जाता है।[185] यदि इसे बन्ध का नियामक या बन्ध कराने वाला मानेंगे तो ग्यारहवें और बारहवे गुणस्थान मे होने वाले एकमात्र साता वेदनीय के आस्रव को इसके द्वारा हुआ ही स्वीकारना होगा। लेकिन यह तो आगम विरुद्ध होगा, क्योंकि साता का आस्रव तो तेरहवे गुणस्थान मे भी होता है पर वहाँ अज्ञानात्मक औदयिकभाव का अभाव है।[186]

इसी तरह असिद्धत्व भी औदयिकभाव है जो कि पहले गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहता है।[187] यदि उसे भी बन्ध में नियामक कहे तो फिर वही बाधा आयेगी कि चौदहवे गुणस्थान मे आस्रव-बन्ध तो होते नही फिर असिद्धत्वभाव ने क्या किया ?

अध्यात्म

बन्ध का अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग साधन—

आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे बन्ध के हेतुओ की चर्चा करते हुए मिथ्यात्वादि पाँच साधन कहे है।[188] इसके बाद उन्होंने एक सूत्र और कहा है।[189] इस प्रकरण मे हम उन्ही दोनो सूत्रों के गर्भ-प्रवेश की कोशिश करेगे।

---

१८५ औदयिकभावेष्वेकविंशतौ मिथ्यादृष्टौ एकजीवस्यैकसमये चतुर्गतित्रिवेदे चतु कषायषट्लेश्यास्वेकैको मिथ्यात्व असिद्धत्व असयमोऽज्ञान चेत्यष्टौ उपशान्तक्षीणकषाययो कषाय विना चत्वार। सयोगे अज्ञान विना त्रय। क का. ८२७ पृ ११६६।

१८६ सयोगे अज्ञान विना त्रय। क का. ८२७ पृ ११६६।

१८७ अयोगे लेश्या विना द्वौ तौ हि मनुष्यगत्यसिद्धत्वे। क का ८२७ पृ ११६६।

१८८ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव। त सू ८/१।

१८९ स कषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध। त सू ८/२।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने अध्यात्मग्रन्थ समयसार में भी मिथ्यात्वादि प्रत्ययों की चर्चा की है।[190] वहाँ पर इन प्रत्ययों के दो भेद कर दिये गये हैं—भावप्रत्यय और द्रव्यप्रत्यय ।[191] जिन जिन मिथ्यात्वादि के उदय से अज्ञानीजीव ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है उसे द्रव्य प्रत्यय कहा गया है। तथा जीव के अन्दर होने वाले अपने रागादि परिणामो को, जिन्हे ही भावबन्ध कहा है, भावप्रत्यय कहा गया है।[192]

ज्ञानी जीव जो कि वीतराग सम्यग्दृष्टि है वह तो द्रव्य-प्रत्ययो के उदय आने पर भी शान्तभाव से निज आत्मा का चिंतन किया करता है जिससे उसे नवीन कर्मबन्ध नही होता।[193] कारण, द्रव्यप्रत्ययों का उदय मात्र ही नवीनबन्ध मे कारण नही बनता, बल्कि उसके उदय मे मुख्यतया भावप्रत्यय रूप जीव के रागद्वेष आदि विभावपरिणाम ही नवीन कर्मबन्ध मे कारण होते है।

उपर्युक्त आशय की अभिव्यक्ति ही सम्भवत आचार्य उमास्वामीजी ने अपने दोनों सूत्रों के माध्यम से की है। अर्थात् उनका पहला सूत्र—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध-हेतव' द्रव्यप्रत्ययो के कथन को करने वाला है तथा दूसरा सूत्र—

---

१९० मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ।। स मा १६४ पृ २३०।

१९१ णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ।। स मा १६५ पृ २३०।

१९२. जीवपरिणामहेदू कम्मत्त पोग्गला परिणमंति।
ण य णाणपरिणदो पुण जीवो कम्म समादियदि। ध ६ पृ १२।

१९३ णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
सते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबधंतो ।। स मा १६६ पृ २३१।

'सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध:' यह भाव प्रत्ययों का प्ररूपक है ।

द्वितीय सूत्र में कहा गया है कि कषायवान् जीव कर्मों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, इसी का नाम बन्ध है । लगता है उन्होंने 'स बन्ध:' इस पर विशिष्ट प्रयोजन के निमित्त से 'वही बन्ध है, अन्य नही' ऐसे शब्दों का संयोजन किया है । इन दोनों सूत्रों से प्रतीत होता है कि मिथ्यात्व के उदय में, अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणजन्य अविरति के सद्भाव में, प्रमाद की अवस्था में, कषायों के आवेग मे, और योगों की हीनाधिकता के साथ कषायवान् जीव नवीन कर्मों का बन्ध अपने रागादि विकारी परिणामों से करता है । इसे यदि संक्षेप मे कहा जाए तो अन्तरङ्ग भावप्रत्यय के द्वारा बहिरङ्ग मे द्रव्यप्रत्ययों का निमित्त पाकर बन्ध रूप नैमित्तिक कार्य सम्पन्न होता है ।

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध—

अध्यात्मग्रन्थो मे आचार्यों ने बन्ध के दो भेद किये है— द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ।[194] यहाँ द्रव्यबन्ध का निमित्तकारण भावबन्ध को प्ररूपित किया जाता है और भावबन्ध के लिए द्रव्यबन्ध को । अर्थात् जो पूर्व मे बधा हुआ द्रव्यकर्म है उसके उदय से भावबन्ध होता है ।[195]

पुद्गल वर्गणाओ का कर्म के रूप मे परिणत होकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होना द्रव्यबन्ध है । और क्रोधादि

१९४ बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति । रा वा २/१० पृ १२४ ।

१९५ तत्र स्थित नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्यया कारण तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्यया कारणमिति कारणकारणव्याख्यान ज्ञातव्यम् । स सा १७८ पृ २४६ ।

परिणामों को भावबन्ध कहा गया है।[196] भावबन्ध को दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है–आत्मा के जिस चेतन परिणाम से कर्म बंधता है उसे भावबन्ध जानना चाहिए।[197]

इस सन्दर्भ में एक बात जो ध्यान देने योग्य अवश्य है, वह है–भावबन्ध और द्रव्यबन्ध मे अनन्तर समयवर्ती न होने की। अर्थात् दोनों ही एक समयवर्ती है और दोनो मे कारण-कार्य भाव भी है। यहाँ ऐसा नही समझना चाहिए कि प्रथम समय में जीव के विकारीभाव रूप कारण हो तथा दूसरे, तीसरे आदि समयो मे कर्मों के बन्ध रूप द्रव्यबन्ध हो। द्रव्यबन्ध मे निमित्त–कारणभूत, जीव के कषाय परिणाम और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशों मे परिस्पंदस्वरूप योग होता है।

बन्ध में आत्मा की भाववती एवं क्रियावती शक्तियों का योग–

आत्मा के पास मुख्यरूप से दो शक्तियाँ है–भाववति और क्रियावति शक्ति। क्रिया से रहित मात्र होनेरूप भाववति शक्ति है।[198] और द्रव्य मे परिस्पन्दन की जनक क्रियात्मक क्रियावति शक्ति है।[199] इन्ही अर्थों को यदि एक-एक शब्दों मे कहें तो योग यानि क्रियावति शक्ति व मिथ्यादर्शन यानि भाववति शक्ति।

---

१९६ तत्र द्रव्यबन्ध कर्मनोकर्मपरिणत पुद्गलद्रव्यविषय.। तत्कृत: क्रोधादि-परिणामवशीकृतो भावबन्ध·। रा वा २/१० पृ १२४।

१९७ बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणपरिणामेण भावबंधो सो।
कम्मादप्पदेसाण अण्णोण्णपवेसण इदरो॥ द्र. स ३२ पृ ७२।

१९८. कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्ति.। स. सा पृ. ५२९।

१९९. कारणानुगतभवतारूपभावमयी क्रियाशक्ति.। स. सा पृ ५२९।

भाववति शक्ति द्वारा कोई क्रिया नही हुआ करती, उसके द्वारा तो मात्र विपरीत भावरूप परिणाम की उत्पत्ति होती है। अतः मिथ्यात्व को भाववति शक्ति कहना युक्त है, कारण इसके उदय से आत्मा में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति श्रद्धान मय भाव का अभाव पाया जाता है।[200] तथा क्रियावति शक्ति जिसे हमने योग कहा है, वह मन-वचन-काय की चेष्टारूप परिस्पदन ही है।[201]

जयधवला मे योग के लिए 'कम्मादाणणिबंधणो[202]' ऐसा कहा गया है अर्थात् कर्मों के ग्रहण मे कारणभूत योग है।[203] शरीरनामकर्म के उदय से इसका आविर्भाव हुआ करता है। इसीलिए इसे कथञ्चित् औदयिक भाव भी कहा जाता है।[204] वैसे इसे पारिणामिकभावो मे भी पारिगणित किया गया है।[205] यहाँ प्रयुक्त योग को मुख्यतया क्रियात्मक शक्ति के रूप मे ही विवक्षित किया जा रहा है। इस समय इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि कषाय को भी

---

२०० (अ) जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धा होदि, त मिच्छत्त। ध ६ पृ ३६।

(ब) यदुदयात् सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षितमोक्ष-मार्गपराङमुख. सन्नात्मा तत्त्वार्थश्रद्धानानिरुत्सुक तत्त्वार्थश्रद्धानपराङमुख अशुद्धतत्त्वपरिणामः सन हिताहितविवेकविकलो जडादिरूपतयाऽवतिष्ठते तन्मिथ्यात्व नाम दर्शनमोहनीयमुच्यते। त वृ ८ ६ पृ २६६।

२०१ वाङ्मन कायवर्गणानिमित्त. आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति। ध १ पृ २९९।

२०२. जोगो णाम जीवपदेसाण कम्मादाणणिबधणो परिप्फदपज्जाओ। जयध १२ पृ २०२।

२०३ देखे न २०२।

२०४ (अ) ओदइओ जोगो, सरीरणामकम्मोदयविणासाणतर जोगविणासुवलभा। ध ५ पृ २२६।

(ब) उवयारेण खओवसमिय भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभाव-विरोहादो। ध ७६।

२०५ तदो सिद्ध जोगस्स पारिणामियत्त। ध. ५ पृ २२६।

क्रियावति शक्ति में शामिल किया जा सकता है। कारण कि उसका ही प्रभाव। सम्बन्ध योग पर सर्वाधिक पड़ता है।

मिथ्यात्व परिणामात्मक होने से मात्र भावरूप है कारण कि इसके उदय से जीव में एकान्त, विपरीत, अज्ञान, वैनायिक और संशय इन पांच भावो की ही उद्भूति-अनुभूति होती है।[206]

इस प्रकरण को सहज बनाने के लिए उदाहरण से समझाने की कोशिश करते हैं–जैसे, बिजली की उत्पत्ति के लिए पखे पर काफी वेग के साथ जल गिराया जाता है, जिससे पखे में गति आ जाने से विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह कार्मणवर्गणाओं के आगमन का निमित्त लेकर जीव के मन-वचन-काय के द्वारा आत्म-प्रदेशों मे गति-परिस्पन्दन पैदा होता है। यानि जल कर्मववर्गणाएं हुई, आत्मा के प्रदेश पंखा, गति को योग व उत्पन्न होने वाली ऊर्जा (विद्युत्) को कषाय समझे। अब जरा ध्यान से देखा जाए कि यदि उस जलप्रवाह मे से सूर्य की किरणे निकलती है तो आकाश मे सप्तरगी इन्द्रधनुष की रचना होती है। यह रचना न तो जल को स्पन्दित करती है और ना ही पंखे के घूमने में इसका कोई हाथ है। यह रचना वहाँ सद्भाव को प्राप्त मात्र प्रकाश का ही परिणाम है। इसी तरह हम देखें तो ज्ञात होगा कि सप्तरंगी इन्द्रधनुषी रचना के समान ही मिथ्यात्व भी जीव की भावात्मक दशा है। मिथ्यात्व के उदय में आत्मा में विपरीत श्रद्धानरूप परिणाम होता

---

२०६ (अ) पञ्चविध मिथ्यादर्शनम्–एकान्तमिथ्यादर्शन, विपरीतमिथ्यादर्शन, संशय-मिथ्यादर्शन वैनयिकमिथ्यादशन, अज्ञानिकमिथ्यादर्शन चेति।
स. स ८/१ पृ २९१।

(ब) मिथ्या वितथाऽसत्या दृष्टिर्दर्शन विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूप-मिथ्यात्वकर्मोदयजनिता। मूला ११९७ पृ ३१३।

है उससे किसी भी प्रकार की क्रियात्मकता नही आती । क्रियात्मकता यदि पैदा होती है तो वह योग और कषाय से ही । तथा सक्रियता से ही बन्ध हुआ करता है । अतः मिथ्यात्व आस्रव और बन्ध नही कराता ।

मिथ्यात्व, कषाय नहीं–

मिथ्यात्व के उदय मे जीव कभी कषायवान् नही होता ।[207] मिथ्यात्व के साथ विद्यमान कषाय के द्वारा ही जीव कषायवान् होता है ।[208] मिथ्यात्व का काम कषायभाव उत्पन्न कराना है भी नही । इससे तो जीव में मात्र अतत्त्वरुचि या अश्रद्धानरूपभाव ही होता है ।[209] यही कारण है जो सूत्रकार उमास्वामी ने 'सकषायत्वात्' के स्थान पर 'स-मिथ्यात्वात्'–ऐसा नही कहा । इससे यह भी समझना चाहिए कि उससे कषाय परिणाम नही होता ।

दूसरी, चारित्र मोहनीय कर्म का परिवार अर्थात् कषाय का परिवार भी पच्चीस का ही बताया गया है । छब्बीस या अट्ठाईस का नही ।[210] अतः स्पष्ट है कि मिथ्यात्व कषाय नहीं है ।

मिथ्यात्व की अकिञ्चित्करता–

लोगों के मन मे एक शंका और काफी गहरे से है । वह–

---

२०७ केण कसाओ ? 'स्वमुपगतं स्वालम्बनं च कषति हिनस्ति इति कषाय' । जयध १ पृ. २६१ ।

२०८ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीय णाम ध १३ पृ ३५९ ।

२०९ अत्तागम-पयत्थेसु असद्धुप्पायय कम्म मिच्छत्त णाम । ध. १३ पृ. ३५९ ।

२१० अकषायवेदनीय नवविध, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति । स. सि ८/९ पृ० ३७५ ।

मिथ्यात्व को आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर कैसे कहा जाए ? है । इसका समाधान करने की पूर्ण कोशिश करूंगा मात्र सावधानी के साथ समझने की बात होगी।

भैय्या, अगर आप शब्दों को ही पकड़ते हों तो पहले शब्दों को ही लेकर समझा जाये । अध्यात्म में षट्कारकों और व्याकरण में सात कारकों का उल्लेख किया गया है ।[211] यदि सम्बोधन को भी कारक मान लिया जाए तो आठ हो सकते है । कारक का सामान्य अर्थ होता है—जो क्रिया को करे वह कारक है ।[212] इन कारकों में सर्वप्रथम कर्त्ता कारक होता है ।[213] कर्त्ता स्वतन्त्र हुआ करता है ।[214] वह कार्य करने में साधन—करण कारक का अवलम्बन लेता है । करण कभी कर्त्ता के रूप में उपस्थित नही होता, बल्कि कभी-कभी कर्त्ता करण के रूप मे ही आ जाता है । जैसे—'ज्ञान ज्ञानता है' यहाँ ज्ञान को ही अभेद विवक्षा में कर्त्ता सज्ञा दे दी गई है, जबकि जानने वाली आत्मा है। कर्त्ता के द्वारा की गई क्रियाके फल को कर्म कहते है ।[215] इस प्रकार कर्त्ता, कर्म और करण कारक का स्वरूप हुआ ।

---

२११ (अ) षट्कारकभेदेन संज्ञा द्विविधा भवति । प. का ४६ पृ ९२ ।

(ब) संप्रदानमपादानं करणाधारकौ तथा ।
कर्म कर्त्ता कारकाणि षट् संबन्धस्तु सप्तम.। का रू श्लो. ३ पृ ८३ ।

२१२ कि कारकं ? करोति क्रिया निर्वर्तयतीति कारक । का रू. ३८० पृ ७६ ।

२१३ कस्मिन्नर्थे प्रथमा विभक्ति ? कर्तरि प्रथमा । का रू ३८० पृ. ३७६ ।

२१४ (अ) स्वतन्त्रः कर्ता । जै व्या. १/२/२४ पृ १२४ ।

(ब) अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वस्वाभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति । प्र. सा १६ पृ १८ ।

२१५ (अ) यत्क्रियते तत्कर्म । का रू ३८१ पृ. ७६ ।

(ब) नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वय प्राप्यत्वात् कर्मकारक भवति ।
प्र सा. १६ पृ. १८ ।

चतुर्थी–सम्प्रदान कारक है यह प्रयोजन को बतलाने वाला है।[216] पंचमी को अपादान कारक कहा गया है।[217] लौकिक क्षेत्र में तो अपादान कारक पृथक् होने के अर्थ में आता है। जैसे–वृक्षात् पर्ण पतति।[218] वृक्ष से पत्ता गिरता है। इसमे क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होने रूप क्रिया हुई। लेकिन अलौकिक–अध्यात्म के क्षेत्र मे अपादान कारक का बडा गहरा अर्थ है। द्रव्य से द्रव्यान्तर या गुण से गुणान्तर हुए बिना ही यहाँ द्रव्य का मात्र पर्याय से पर्यायान्तर होना ही अपादान कारक है।[219] अत. ससार में जितनी भी वस्तुएँ है, द्रव्य हैं वे सभी अविनश्वर हैं, नित्य है।[220] षष्ठी को सम्बन्ध कारक कहा गया है। वैसे यह कार्य को सीधे निष्पन्न करने वाला नहीं होता इसलिए कभी-कभी इसे कारको मे नही कहा जाता। सम्बन्ध दो जगहों से होता है–एक, निज से और पर से, दूसरा। इसको कारक सज्ञा खासकर अध्यात्म ग्रन्थों मे नही दी गयी है।[221] सप्तमी को अधिकरण कारक कहा गया है।[222]

---

२१६ (अ) यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत्सम्प्रदानम्। का रू ३६६ पृ ७६।
(ब) निर्विकारपरमानन्दैकपरिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सम्प्रदान भवति। प्र सा १६ पृ १८।

२१७ (अ) यतोऽपैति भयमादत्ते तदपादनम्। का रू ४०० पृ ८०।
(ब) तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविनाशेऽप्यखण्डितचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादान भवति। प्र सा १६ पृ १८।

२१८ का रू ४०० पृ ८०।

२१९ देखें नं० २१७ (ब)।

२२० नित्यावस्थितान्यरूपाणि। त सू ५/४।

२२१ स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षते। प का. त ६२।

२२२ (अ) य आधारस्तदधिकरणम्। का रू ४१४ पृ ८२।
(ब) अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणम्। रा वा ६/६ पृ ५१२।

अधिकरण को अच्छी तरह समझने के लिए हमें तीन चीजें समझना होगी--करण, उपकरण और अधिकरण। करण का अर्थ है साधकतम साधकतमं करणं।[223] और इस कथन के लिए जो सहायक या उपकारी हो वह उपकरण कहलायेगा।[224] कार्य का जो आधार होता है उसे अधिकरण कहा जाता है।[225] जैसे आधार क्या है ? द्रव्य आधार होता है गुण और पर्यायों का।[226] इसी प्रसग को ध्यान में रखकर मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर कहा गया है। क्योंकि इस प्रसंग में मिथ्यात्व मात्र अधिकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यानी मिथ्यात्व के उदय में करण अर्थात् अनन्तानुबन्धी अपनी शक्ति के द्वारा कर्त्ता बनकर इस बन्धरूप कार्य को करने वाली होती है।

कर्त्ता विभिन्न कारणों की सहायता से कार्य को करता है जिसमे उसे अधिकरणरूप कारक की भी आवश्यकता होती है। ध्यान रहे--अधिकरण कभी भी कर्त्ता या करण नहीं हुआ करता और न ही वह कोई कार्य ही करता है। कार्य तो हमेशा कर्त्ता और करण के द्वारा ही हुआ करते हैं। यहाँ जब मिथ्यात्व को अधिकरण के रूप में प्रयुक्त किया है तब उसे न कर्त्ता कहा जा सकता है और न ही करण। अनन्तानुबन्धी की बात अलग है। इसके दो अधिकरण

---

२२३. (अ) साधकतम करणम्। जै. व्या. १-२-१२३ पृ. १२४।

(ब) साधकतमं करणमिति। न्या. दी. पृ. १३।

२२४. (अ) येन निर्वृत्तेरुपकार: क्रियते तदुपकरणम्। स. सि २/१७ पृ. १२७।

(ब) उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरण। ध. १ पृ २३६।

२२५. य आधारस्तत्कारकमधिकरणसंज्ञं भवति। क. का. ४१७पृ ८२।

२२६. गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। त. सू. ५/३८।

हैं–प्रथमगुणस्थान और द्वितीयगुणस्थान ।[227] प्रथमगुणस्थान में वह अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बांधती है तथा द्वितीयगुणस्थान में मात्र अपना ही बन्ध करती है ।

मैं समझता हूँ कि इस तरह की विवक्षाओं को लेकर यदि मिथ्यात्व को कर्त्ता और करणरूप से कार्य के प्रति अकिञ्चित्कर कह दें तो कोई अन्योक्ति नहीं कहलानी चाहिए । जहाँ आस्रव और बन्ध का कर्त्ता और करण मिथ्यात्व नही होता तब अकिञ्चित्कर ही तो हुआ–यानी आस्रव और बन्ध में उसका कोई उल्लेखनीय योगदान नही है । जैसे–

एक केनवास पर एक चित्रकार ने चित्र बनाया । चित्र बनाने में वह विभिन्न रगों एव ब्रुश की सहायता लेता है और चित्र को तैयार कर देता है । तो यदि यहाँ कोई यह कहे कि–'चित्र केनवास ने बनाया' यह उसकी अविज्ञता का ही सूचक हुआ ना ? कारण, चित्र चित्रपट पर बना है लेकिन चित्रपट–केनवास ने नही बनाया । भैय्या ! चित्र तो चित्रकार के द्वारा ही बनाया गया, ऐसा माना जाता है इसी तरह यहाँ पर अनन्तानुबन्धी चित्रकार है और मिथ्यात्व चित्रपट ।

इस तरह अध्यात्म के माध्यम से भी देखा जा सकता है कि मिथ्यात्व की आस्रव और बन्ध के क्षेत्र में क्या स्थिति है । इसके बाद अब न्याय के माध्यम से भी अपनी बात कह दूँ । क्योंकि इसका व्यवहार में अलग ही महत्व है । इसके द्वारा जटिल विषय को भी सहज व सुबोध किया जा सकता है । जैनाचार्यों ने तो इस विधा का अनुसरण प्रत्येक क्षेत्र में किया है ।

---

२२७. मिच्छे मिच्छादाव सुहुमतियं सासणे अणेइंदी ।
थावरवियलं मिस्से मिस्सं च य उदयवोच्छिण्णा ।। क. का. २६५पृ.४२४ ।

प्रत्ययों की व्याप्ति—

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने अपने न्यायग्रन्थ आप्तपरीक्षा में जैसे कषायपाहुड को ही उद्धृत कर कहा है कि जहाँ मिथ्यात्वरूप प्रत्यय रहेगा वहाँ पर ऊपर वाले सारे के सारे प्रत्यय विद्यमान रहेंगे ही। किन्तु ऊपर वाले प्रत्ययों के साथ नीचे वाले प्रत्ययों की व्याप्ति नहीं है।[228] जैसे—मिथ्यादर्शन का जहाँ उदय है वहाँ नियम से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सद्भाव होना आवश्यक है। लेकिन जहाँ अविरति का उदय कहा गया है वहाँ मिथ्यात्व का सद्भाव भजनीय होता है। कारण, सासादन सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीजन्य अविरति सहित तीनों अविरति के रहते हुए भी मिथ्यात्व का सद्भाव नही होता।

इस तरह से प्रत्ययों की व्याप्ति आगे भी समझ लेना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के रहते तीनों अविरतियों का सद्भाव अवश्यंभावी है।

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध में कार्य-कारण व्यवस्था—

जैसा कि अध्यात्म के प्रकरण मे द्रव्यबन्ध और भावबन्ध की चर्चा की है तथा उन्हे कार्यकारण के रूप मे बताया गया है वैसे ही न्यायग्रन्थों मे[229] भी उनमें कार्यकारणभाव बतलाया गया है।

---

२२८. एकैकहेतुक एव बन्ध. पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्य बन्धहेतोः सद्भावात्। कषायहेतुको हि बन्धो योगहेतुकोऽपि प्रमादहेतुकश्च योगकषायहेतुकोऽपि। अविरति हेतुकश्च योगकषायप्रमादहेतुक. प्रतीयते। आ. प. का २ पृ २।

२२९ बन्धो हि सक्षेपतो द्विधा भावबन्धो द्रव्यबन्धश्चेति। तत्र भावबन्ध. क्रोधाद्यात्मक स्तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शन तद्भावे भावादभावे चाभावात्। आ. प. का. २ पृ. १।

इससे उसकी यहाँ पर पुनरोक्ति करना उचित नहीं होगी । इस सन्दर्भ में यहाँ इतना विशिष्टता से स्वीकार करने योग्य है कि 'जब आचार्यों ने उन दोनों में कार्य-कारणभाव या निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है । तो उसे अमान्य नही किया जा सकता ।' यदि इसे स्वीकार नही करते है तो सांख्यमत का प्रसंग आ जायेगा ।[230] क्योंकि प्रकृति के पास परिणमन करने की क्षमता मात्र होने से ही कार्यो की उत्पत्ति नही हो जाती । उसमें पुरुषगत रागादि परिणामो का निमित्त आवश्यक होता है ।[231]

इससे भी स्पष्ट है कि कषाय के उदयरूप निमित्त को पाकर कर्मवर्गणारूप परिणत पुद्गल द्रव्य का कर्मपने से परिणमन करना नैमित्तिक कार्य है । इस तरह निमित्त–नैमित्तिकभाव को स्वीकार करके ही बन्ध व्यवस्था को समझा जा सकता है ।

उपसंहार

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय–

सभी आचार्यों का कहना है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों मे मोहनीय कर्म ही मूलभूत कर्म है । और इस मोहनीय मे भी कषाय ही सभी कर्मों की जननी है । आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है–

---

२३० देखें स. सा. ११६ से १२५ पृ १७५–१८१ तक ।
एवं सांख्यकारिका ६२ ।

२३१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ।।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णंपि ।। स सा.८७-८१ पृ. १३२ ।

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरु तेण कसाग्रोत्तिणं बेंति ।।[232]

अर्थात् कर्मरूपी खेत में मिथ्यात्वादि बहुत प्रकार के परिणामरूपी बीजों के द्वारा अनेक प्रकार के सुख-दुःख रूपी धान्य को उत्पन्न करने वाला कषायरूपी किसान होता है । यानि कषाय को ही सभी कर्मो का कर्त्ता/सृष्टा माना है ।

जब ये कषाये तीव्र वेग से जीव के उपयोग पर प्रभाव डालती है तो उस समय वह निज—पर के भेद को ही भूल जाता है और उसे निरन्तर कर्मबन्ध हुआ करता है । ऐसे आवेग के अवसरों पर तीन लोक में एकमात्र हितकारी जो सम्यग्दर्शन है[233] उसे भी प्राप्त नही कर पाता । उसे प्राप्त करने के लिए कषायों के वेग को कम करना होता है ।[234] सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भोजन करते, नीद लेते, विषयभोगों मे लगे रहने आदि अवस्थाओ मे भी असम्भव होती है । बिना कषायो को मन्द किये उसे प्राप्त नही किया जा सकता है । इसे एक उदाहरण से समझ लें—

मान लीजिए आप एक कार में बैठे हुए है । कार अपनी अधिकतम गति से चल रही है । अब यदि आप उस कार से उतरना चाहें तो उसमें से उतरना सम्भव नही है । उस परिस्थिति में कार को भी एकदम नही रोका जा सकता है । इस पर भी किसी ने न मानकर यदि उसे रोक ही दिया तो वह पलट जायेगी, और यदि

२३२ जी का. २८२ पृ. ४७३ ।

२३३. देखे मंगलाचरण पृ. १ ।

२३४ विसुद्धीए वड्ढमाणस्सेदस्स वड्ढमाणकसायत्तेण सहविरोहादो । तदो कोहादिकसायाण बिट्ठाणाणुभागोदयजणिदं तप्पाओग्ग मदयरकसाय-परिणाममणुभवतो एसो सम्मत्तमुप्पाएदुमाढवेइ त्ति सिद्धो सुत्तस्स समुदायत्थो । जयध. १२ पृ. २०३ ।

आप उतर गये तो आपका बचना भी निश्चित सुरक्षित नही है। तब आप क्या करे ? अब तो कार को ही क्रमश धीमी करनी होगी, और जैसे ही वह एक कि.मी प्रति घण्टे की स्पीड मे आ जाएगी तो आपका उतरना सहज ही हो सकता है।

इसी तरह कषायों की बात है कि उनके आवेग के समय यदि आप उनसे हटने की बात सोचें तो सम्भव नही। उस समय तो मिथ्यात्व मे भी सत्तर कोटाकोटि सागर का बन्ध चलता है। जब वे कुछ कम हो जाती है तो कषाय के द्वारा होने वाला बन्ध मात्र अन्त कोटाकोटिसागर रह जाता है। तभी हम सच्चे देव-गुरु-शास्त्र या निज-पर की ओर दृष्टि प्राप्त कर सकते है।[235] प्रायोग्यलब्धि के उपरान्त करणलब्धि के माध्यम से ही सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है।[236] कारण, जैसे-जैसे कषाय मन्द होती है वैसे-वैसे मिथ्यात्व की शक्ति भी क्षीण होती जाती है।

हमारे ऊपर आचार्यों का बडा उपकार है। जो कि उन्होने, जिन कर्मवर्गणाओ को हम देख नही सकते, चख नही सकते, छू नही सकते, सूँघ नही सकते–ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्गणाओ को श्रुतज्ञान के माध्यम से जानकर उन पर श्रद्धान कर उन्हे हटाने के साधन बताये। मात्र 'मिथ्यात्व हटाओ······मिथ्यात्व हटाओ' कहने मात्र से वह हटने वाला नही। हमे उसे हटाने के लिए कषायों को व उसको भी समझना होगा और उनसे बचने का प्रयास भी करना

---

२३५. एत्थ विसोधीए वड्ढमाणए सम्मत्ताहिमुहमिच्छादिट्ठिस्स पयडीण बंधवोच्छेदकमो उच्चदे–सव्वो सम्मत्ताहिमुहमिच्छादिट्ठी सागरोवमकोडाकोडीए अतो ठिदि बधदि, णो बहिद्धा। ध. ६ पृ. १३५।

२३६. खमउवसमियविसोही देसणपाओग्ग करणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥ जी का: ६५१ पृ. ८८५।

होगा। जो आत्मा अनादिकाल से कषायों के वशीभूत हो अपने स्वभाव को ही भूल बैठा है, उसे अपनी भूल सुधारने का यही उपाय है।

अध्यात्म प्रणाली में भी कहा गया है कि बुद्धिपूर्वक[237] आस्रव और बन्ध का रास्ता बन्द करने के लिए इन्द्रिय और प्राणी सयम के द्वारा कषायो का और मन-वचन-काय की व्यर्थ प्रवृत्तियों का उपशम करे तथा अबुद्धिपूर्वक[238] होने वाले रागद्वेष से बचने के लिए बार-बार आत्मतत्त्व को छुओ।[239] वीतराग-परिणाम ही इस बन्ध की दशा से छुटकारा दिला सकता है। जैसा कि कहा है–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्झह।।[240]

अर्थात् राग के द्वारा बन्ध होता है और वीतरागता के द्वारा मुक्ति। ऐसा बन्ध और मोक्ष का संक्षेप कथन जिनदेव द्वारा किया गया है। इसलिए अपना हित चाहने वाले को राग नही करना चाहिए। राग मे रमना नही चाहिए। राग से राग नही करना चाहिए।

---

२३७ (अ) सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिश राग समग्र स्वयम्। निजाम् ५/४ पृ ५८।
(ब) बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयाना लम्ब्य प्रवर्त्तन्ते, प्रवर्तमाना. स्वानुभवगम्या अनुमानेन परस्यापि गम्या भवति।
स. मा. १७२ पृ. २३८।

२३८ (अ) वारम्बारमबुद्धिपूर्वमपि त जेतु स्वशक्तिं स्पृशन्। निजाम् ५/४ पृ ५८।
(ब) अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमन्तरेण केवलमोहोदय-निमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेष।
स. सा. १७२ पृ २३८।

२३९. देखें २३७ एवं २३८।

२४०. स सा १५० पृ. २१३।

आज तो लोग मात्र चर्चा में डूब रहे हैं और समझ रहे हैं कि हो गया आत्मदर्शन। भैय्या ! असंयमित रहकर स्वाध्याय करने मात्र से कुछ भी सिद्ध होने का नही।[241] संयमित होकर इन्द्रियों को जीतो। ऐसा न हो कि आप यहा चर्चा करे और वर्षों कोर्ट-कचहरी में केस भी लड़ें। स्वाध्याय का फल सुख में लीन रहना है।[242] यदि सयम के साथ षट्खण्डागम जैसे महान् आर्ष ग्रन्थों का अवलोकन करोगे तो ही असख्यातगुणी निर्जरा होगी।

हमारा उद्देश्य : भूल सुधार व अनाग्रहभाव—

लोग कहते है महाराज ! आप आठ-दस वर्षों से निरन्तर यह चर्चा कर रहे है, इससे आपको क्या लाभ हुआ ? आपको जो भी लाभ हुआ हो सो ठीक है, लेकिन इतना अवश्य है कि लोगो में मिथ्यात्व के विषय का दुष्प्रचार अवश्य हुआ है। ऐसी मेरी धारणा है ?

भैय्या ! हमने तो इस चर्चा को लगातार चलाकर व चिन्तन-मनन का विषय बनाकर आगम का स्वाध्याय और लोगो के विरोध के बावजूद भी प्रत्येक परिस्थिति मे समता रख पाने—जैसा फल पाया है। साथ ही हर समय सत्य और आगम का सहारा लेने की सीख मुझे मिली।

मिथ्यात्व को आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर कहकर मिथ्यात्व का पोषण या दुष्प्रचार का हमारा आशय कभी

२४१. सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष। तत्प्राप्त्युपायो मार्ग.। मार्ग इति चैकवचन-निर्देश: समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थं। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्ति कृता भवति। जयध १० पृ २६।

२४२. एवमभिष्टुवतो मे, ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूंषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धि र्ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्। ध ध्या दी. पृ १५६।

नही रहा। लेकिन यदि कोई ऐसा सोचता है तो यह उसका उपादान है। हमारा तो आशय मात्र इतना ही है कि—'मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की आस्रव और बन्ध के क्षेत्र में वास्तविक स्थिति क्या है' इसे प्रकट किया जाना चाहिए। जिस कषाय की छत्र-छाया में मिथ्यात्व पलता है, उस कषाय की ओर हमारा ध्यान प्रत्येक समय रहना चाहिए। कषायों को कम करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, जिससे कि मिथ्यात्व को हटाया जा सके। कषाय की तीव्रता मे तत्त्वार्थश्रद्धान तो दूर भगवान् की वाणी का श्रवण-मनन-चिन्तन भी नही किया जा सकता है। यह एक बात हुई।

दूसरी, जिस तत्त्व का जो स्वरूप है उसे उसी रूप में समझे—माने और श्रद्धान करे। इसके बिना सम्यग्दर्शन होने वाला नही। जिसे अभी मिथ्यात्व और कषाय का सम्यक् स्वरूप ही ज्ञात नही, जो विषय—कषायो में रच-पच रहा है, उसे सम्यक्त्व की भूमिका कैसे बनेगी ?

आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का कितना और कैसा काम है—इसे समझना और इससे वचना अनिवार्य है। इनके अभाव होने पर सम्यग्दर्शन तथा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होगे और तभी तीनों मिलकर मोक्षमार्ग बनेगा। अकेले सम्यग्दर्शन के द्वारा या उसकी चर्चा के द्वारा मोक्ष मिलने वाला नही।

अभी तक हमने जो कुछ भी कहा वह आगम को देखकर उसको ध्यान मे रखकर उस पर पूर्वापर विचार कर ही कहा है। फिर भी मै 'ऐसा नही कहता कि यही अन्तिम है।' आगे भी यदि आगम में कोई बात आयेगी तो हम विद्वानों से विचार-विमर्श

करेंगे। हमारा कोई भी आग्रह नही कि इसे ही मानना चाहिए। हमने तो मात्र आपके सामने आगम के परिप्रेक्ष्य मे इस विषय को प्रस्तुत किया है। आगम पर हमारा विश्वास है। सभी का, कम से कम मोक्षमार्गी का तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर सच्चा श्रद्धान होना ही चाहिए—ऐसी भावना है, तथा जिसने इस पचमकाल मे विषय-कषायो की चकाचौध से बचकर अपना कल्याण करने का पुरुषार्थ आरम्भ कर दिया, वे धन्य है।

पापमराति धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ।।१४८।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

(दिनाक–११/६, २६/६ एवं ६/८/'८६ की मध्याह्न को गृहीत विशेष चर्चाओं के आधार से संकलित एवं आलेखित)